मृदा संरक्षण एवं प्रबंधन

लेखकः
डॉ॰ दिनेश मणि

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय (उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार
Commission for Scientific and Technical Terminology
Ministry of Human Resource Development
(Department of Higher Education)
Government of India

© भारत सरकार, 2013

© Goverment of India, 2013

प्रथम संस्करण : 2013

मूल्य: देश में : ₹ 344.00

विदेश में : $ 7-16

£ 5-73

प्रकाशक :–

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

पश्चिमी खंड–7, रामकृष्णपुरम,

नई दिल्ली–110 066.

वेबसाइट : www.cstt.nic.in

ई मेल : vgs.cstt@gmail.com

बिक्री का पता :–

(1) **बिक्री अनुभाग**

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

पश्चिमी खंड–7, रामकृष्णपुरम,

नई दिल्ली–110 066.

(2) **प्रकाशन नियंत्रक, भारत सरकार**

सिविल लाइन्स,

दिल्ली–110 054.

मृदा संरक्षण एवं प्रबंधन

कृषि पाठमाला

लेखक :
डॉ. दिनेश मणि
रसायन विज्ञान विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(उच्चतर शिक्षा विभाग)
भारत सरकार
Commission for Scientific and Technical Terminology
Ministry of Human Resource Development
(Department of Higher Education)
Government of India.

2013

समन्वय तथा संपादन

प्रमुख संपादक
प्रो. केशरी लाल वर्मा
अध्यक्ष

संपादक
श्री अशोक एन. सेलवटकर
वैज्ञानिक अधिकारी

पुनरीक्षण
प्रो. आई. पी. पाण्डेय
पूर्व प्रोफेसर, कृषि रसायन एवं मृदा विज्ञान
चन्द्रशेखर आजाद कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय,
कानपुर, उ० प्र०

प्रकाशन
डॉ. धर्मेन्द्र कुमार
सहायक निदेशक

श्री आलोक वाही
कलाकार

श्री कर्मचंद
प्र. श्रे. लि.

प्रस्तावना

भारत सरकार ने विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षा के माध्यम के रूप में हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के विकास के लिए तत्कालीन शिक्षा मंत्रालय (अब मानव संसाधन विकास मंत्रालय) के अधीन सन् 1961 में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग की स्थापना की थी। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आयोग ने विभिन्न विषयों के शब्दसंग्रहों, परिभाषा कोशों, चयनिकाओं, पाठमालाओं तथा विश्वविद्यालय स्तरीय हिंदी पुस्तकों का निर्माण किया है। विभिन्न योजनाओं के अंतर्गत अनेक पाठ्यपुस्तकें, शब्द–संग्रह, परिभाषा कोश, चयनिकाएँ, पत्रिकाएँ आदि प्रकाशित हो चुकी हैं। हाल ही में आयोग ने अपनी स्थापना के पचास वर्ष पूरे किए हैं।

पाठमालाओं के निर्माण में इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि उनकी विषय-सामग्री अद्यतन हो और भाषा सरल, बोधगम्य एवं आकर्षक हो ताकि अध्यापक भी हिंदी माध्यम से अपने–अपने विषय को पढ़ाने में सक्षम हो सकें और छात्रों को पठन सामग्री समझने में आसानी हो।

प्रस्तुत पाठमाला "मृदा संरक्षण एवं प्रबंधन" का लेखन इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वरिष्ठ वैज्ञानिक डॉ. दिनेश मणि ने किया है। लेखक ने मृदा अपरदन तथा उससे जुड़े विषयों पर करीने से कलम चलाई है और सरल शब्दों में शब्दावली के प्रयोग के साथ विषय को प्रस्तुत किया है।

लेखक ने मृदा प्रबंधन और उसके संरक्षण पर अधिक जोर देते हुए मृदा क्षरण से होने वाली हानियों का उल्लेख किया है। लेखक ने सरल शब्दों में विषय का प्रतिपादन किया है और विभिन्न प्रकार की मृदाओं के प्रबंधन पर प्रकाश डाला है। पाठमाला की भाषा सरल, बोधगम्य,और प्रवाहपूर्ण है। इसमें वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा निर्मित मानक शब्दावली का प्रयोग करने का प्रयास किया है और पुस्तक के अंत में तकनीकी शब्दों की सूचियाँ, संदर्भ,तथा सारणियाँ भी दी गई हैं।

मुझे विश्वास है कि स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थियों तथा अन्य पाठकों के लिए यह उपयोगी सिद्ध होगी।

(प्रो.केशरी लाल वर्मा)
अध्यक्ष

लेखकीय

प्राकृतिक संसाधनों में मृदा एक महत्वपूर्ण संसाधन है। प्रायः यह देखा गया है कि अवैज्ञानिक तरीके से कृषि कार्य करने तथा अनुचित भूमि उपयोग नियोजन के परिणामस्वरूप मृदा क्षरण की समस्या बढ़ रही है। कृषक प्रायः ढाल, वर्षा और मृदा के प्रकार आदि बुनियादी कारकों पर ध्यान दिए बिना किसी भी उपलब्ध भूमि पर फसल बो देते हैं। यदि कृषि कार्यक्रम को उचित ढंग से नियोजित किया जाए तो मृदा क्षति को सरलता से नियंत्रित किया जा सकता है। इस प्रकार का नियोजन मृदाओं, वर्षा, अपरदन, स्थलाकृति, संबद्ध क्षेत्र में फसलोत्पदन की पद्धति तथा इसी प्रकार के अन्य स्थानीय कारकों पर सुलभ- मूलभूत आँकड़ों के आधार पर किया जाना चाहिए। मृदा संरक्षण एवं प्रबंधन के लिए सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि भूमि की प्रत्येक गहराई का उपयोग उसकी सामर्थ्य और उसकी सीमा को ध्यान में रखकर किया जाए।

एक अनुमान के अनुसार देश में सन् 2035 तक कृषि योग्य भूमि की उपलब्धता 0.80 हेक्टेयर प्रति व्यक्ति रह जाने की संभावना है। अतः बढ़ती हुई जनसंख्या की मांगो को पूरा करने के लिए यह आवश्यक है कि मृदा अपरदन को रोका जाए तथा बेकार, बंजर, ऊसर, क्षारीय, अम्लीय तथा निम्नीकृत मृदाओं को सुधारा जाए। मृदा की उर्वरता का उच्च स्तर एवं उत्पादकता बनाए रखना आवश्यक है अन्यथा जीवन का आधार समाप्त हो जाएगा और हमारी सभ्यता नष्ट हो जाएगी। अतः मृदा का संरक्षण एंव प्रबंधन अति आवश्यक है।

इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत पाठमाला (मोनोग्राफ) "मृदा संरक्षण एवं प्रबंधन" का प्रणयन किया गया है। विश्वास है कि प्रस्तुत मोनोग्राफ स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थियों सहित सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। मोनोग्राफ से संबंधित सुझावों का स्वागत है।

डा. दिनेश मणि

संपादकीय

भारत एक कृषि प्रधान देश है, प्रारम्भ से ही मृदा उपयोग खेती करने के लिए होता रहा है और आगे भी होना है। अतः मृदा के संरक्षण पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है, निरंतर बढ़ती जनसंख्या को भोजन तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं को उपलब्ध कराने की क्षमता बहुत कुछ मृदा के अच्छे स्वास्थ्य पर निर्भर है।

कृषि के लिए मृदा एक अनिवार्य एवं बहुमूल्य प्राकृतिक संसाधन है। मृदा के बिना न तो कृषि संभव है न ही मानव जीवन। बढ़ती हुई जनसंख्या की माँगों को पूरा करने के लिए यह आवश्यक है कि मृदा अपरदन को रोका जाए तथा बेकार, बंजर, ऊसर, क्षारीय, अम्लीय तथा निम्नीकृत मृदाओं को सुधारा जाए।

प्रस्तुत पाठमाला "मृदा संरक्षण एवं प्रबंधन" इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रसायन विज्ञान विभाग के एसोशिएट प्रोफेसर डॉ. दिनेश मणि द्वारा लिखी गई है। यह पुस्तक ग्यारह अध्यायों में विन्यस्त है। यह पुस्तक विषय के विद्यार्थियों एवं अध्ययन बोधगम्य है। पाठमाला के पुनरीक्षक प्रो. आई. पी. पाण्डेय (पूर्व प्रोफेसर, कृषि रसायन विज्ञान एवं मृदा विज्ञान, चं. शे. आजाद कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय कानपुर, उ.प्र.) का मैं आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने समय पर पुनरीक्षण कार्य पूर्ण किया। लेखक भी साधुवाद के पात्र हैं जिन्होंने अपनी अविरल कलम से इस पाठमाला को आकार दिया और आयोग की पाठमाला में वृद्धि करने में अपना अमूल्य योगदान दिया।

अंत मैं आयोग के अध्यक्ष को सादर धन्यवाद देता हूँ कि उन्होने इस कार्य के लिए मुझे योग्य समझा। उनके समय-समय पर मिले मार्गदर्शन से पाठमाला और लाभन्वित हुई। मै सभी विषय-विशेषज्ञों, भाषाविदों तथा आयोग के अधिकारियों व कर्मचारियों को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पाठमाला करने में अपना बहुमूल्य योगदान दिया।

सुझावों का स्वागत है।

(अशोक सेलवटकर)
वैज्ञानिक अधिकारी

—: अनुक्रमणिका :—

अध्याय	पृ. सं.
1. मृदा संरक्षण की मूल अवधारणा, परिभाषा, उद्देश्य एवं महत्त्व	1–12
2. मृदा संरक्षण के लिए केंद्र तथा उ.प्र. सरकार की विभिन्न योजनाएं	13–30
3. मृदा अपरदन	31–48
4. जल द्वारा मृदा अपरदन	49–56
5. वायु द्वारा मृदा अपरदन	57–64
6. मृदा संरक्षण, सर्वेक्षण एवं मृदा उपयोग क्षमता के आधार पर वर्गीकरण	65–80
7. प्रक्षेत्र जलाशय तथा जल समेट प्रबंधन	81–98
8. मृदा संरक्षण प्रबंधन	99–176
9. मृदा संरक्षण में वानिकी एवं चरागाह प्रबंधन	177–190
10. भूमि पुनरुद्धार	191–216
11. उपसंहार	217–228
12. परिशिष्ट	
– उपयोगी सारणियां	229–243
– संदर्भ सूची	244–245
पारिभाषिक शब्दावली:	
हिंदी-अंग्रेजी	246–250
अंग्रेजी-हिंदी	251–256

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा स्वीकृत शब्दावली–निर्माण के सिद्धांत

1. अंतर्राष्ट्रीय शब्दों को यथासंभव उनके प्रचलित अंग्रेज़ी रूपों में ही अपनाना चाहिए और हिंदी व अन्य भारतीय भाषाओं की प्रकृति के अनुसार ही उनका लिप्यंतरण करना चाहिए। अंतर्राष्ट्रीय शब्दावली के अंतर्गत निम्नलिखित उदाहरण दिए जा सकते हैं :–

   क) तत्वों और यौगिकों के नाम जैसे हाइड्रोजन, कार्बन डाई–ऑक्साइड आदि;

   ख) तौल और माप की इकाइयाँ और भौतिक परिमाण की इकाइयाँ जैसे डाइन, कैलॉरी, ऐम्पियर आदि;

   ग) ऐसे शब्द जो व्यक्तियों के नाम पर बनाए गए हैं जैसे – मार्क्सवाद (कार्ल मार्क्स), ब्रेल (ब्रेल), बॉयकाट (कैप्टेन बॉयकाट), गिलोटिन (डॉ. गिलोटिन), गेरीमैंडर (मि. गेरी), ऐम्पियर (मि. ऐम्पियर), फ़ारेनहाइट तापक्रम (मि. फारेनहाइट) आदि;

   घ) वनस्पतिविज्ञान, प्राणिविज्ञान, भूविज्ञान, आदि की द्विपदी नामावली;

   ङ) स्थिरांक, π, g जैसे आदि;

   च) ऐसे अन्य शब्द जिनका आमतौर पर सारे संसार में व्यवहार हो रहा है जैसे रेडियो, पेट्रोल, रेडार, इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन आदि;

   छ) गणित और विज्ञान की अन्य शाखाओं के संख्यांक, प्रतीक चिह्न और सूत्र, जैसे – साइन, कोसाइन, टेन्जेन्ट, लॉग आदि (गणितीय संक्रियाओं में प्रयुक्त अक्षर रोमन या ग्रीक वर्णमाला के होने चाहिए)।

2. प्रतीक, रोमन लिपि में अंतर्राष्ट्रीय रूप में ही रखे जाएँगे परंतु संक्षिप्त

रूप देवनागरी और मानक रूपों में भी, विशेषतः साधारण तौल और माप में लिखें जा सकते हैं। सेंटीमीटर का प्रतीक जैसे cm. हिंदी में भी ऐसे ही प्रयुक्त होगा परंतु देवनागरी संक्षिप्त रूप से.मी. भी हो सकता है। यह सिद्धांत बाल–साहित्य और लोकप्रिय पुस्तकों में अपनाया जाएगा, परंतु विज्ञान और प्रौद्योगिकी की मानक पुस्तकों में केवल अंतर्राष्ट्रीय प्रतीक, जैसे cm. ही प्रयुक्त करने चाहिए।

3. ज्यामितीय आकृतियों में भारतीय लिपियों के अक्षर प्रयुक्त किए जा सकते हैं, जैसे : क, ख, ग यो अ, ब, स परंतु त्रिकोणमितीय संबंधी में केवल रोमन अथवा ग्रीक अक्षर ही प्रयुक्त करने चाहिए, जैसे साइन A, कॉस B आदि।

4. संकल्पनाओं को व्यक्त करने वाले शब्दों का सामान्यत; अनुवाद किया जाना चाहिए।

5. हिंदी पर्यायों का चुनाव करते समय सरलता, अर्थ की परिशुद्धता और सुबोधता का विशेष ध्यान रखना चाहिए। सुधार–विरोधी प्रवृत्तियों से बचना चाहिए।

6. सभी भारतीय भाषाओं के शब्दों में यथासंभव अधिकाधिक एकरूपता लाना ही इसका उद्देश्य होना चाहिए और इसके लिए ऐसे शब्द अपनाने चाहिए जो :–

   क) अधिक से अधिक प्रादेशिक भाषाओं में प्रयुक्त होते हों, और

   ख) संस्कृत धातुओं पर आधारित हों।

7. ऐसे देशी शब्द जो सामान्य प्रयोग के पारिभाषिक शब्दों के स्थान पर हमारी भाषाओं में प्रचलित हो गए हैं, जैसे, telegraph/telegram के लिए तार, continent के लिए महाद्वीप, post के लिए डाक आदि, इसी रूप में व्यवहार में लाए जाने चाहिए।

8. अंग्रेजी, पुर्तगाली, फ्रांसीसी आदि भाषाओं के ऐसे विदेशी शब्द जो भारतीय भाषाओं में प्रचलित हो गए हैं, जैसे टिकट, सिगनल, पेंशन,

पुलिस, ब्यूरो, रेस्तरां, डीलक्स आदि, इसी रूप में अपनाए जाने चाहिए।

9. **अंतर्राष्ट्रीय शब्दों का देवनागरी लिपि में लिप्यंतरण** – अंग्रेजी शब्दों का लिप्यंतरण इतना जटिल नहीं होना चाहिए कि उसके कारण वर्तमान देवनागरी वर्णों में नए चिह्न व प्रतीक शामिल करने की आवश्यकता पड़े। शब्दों का देवनागरी लिपि में लिप्यंतरण अंग्रेजी उच्चारण के अधिकाधिक अनुरूप होना चाहिए और उनमें ऐसे परिवर्तन किए जाएं जो भारत के शिक्षित वर्ग में प्रचलित हों।

10. **लिंग** – हिंदी में अपनाए गए अंतर्राष्ट्रीय शब्दों को, अन्यथा कारण न होने पर, पुल्लिंग रूप में ही प्रयुक्त करना चाहिए।

11. **संकर शब्द** – पारिभाषिक शब्दावली में संकर शब्द, जैसे guaranteed के लिए 'गारंटित', classical के लिए 'क्लासिकी', codifier के लिए 'कोडकार' आदि के रूप में सामान्य और प्राकृतिक भाषाशास्त्रीय प्रक्रिया के अनुसार बनाए गए हैं और ऐसे शब्दरूपों को पारिभाषिक शब्दावली की आवश्यकताओं यथा सुबोधता, उपयोगिता और संक्षिप्तता का ध्यान रखते हुए व्यवहार में लाना चाहिए।

12. **पारिभाषिक शब्दों में संधि और समास** – कठिन संधियों का यथासंभव कम से कम प्रयोग करना चाहिए और संयुक्त शब्दों के लिए दो शब्दों के बीच हाइफन लगा देना चाहिए। इससे नई शब्द–रचनाओं को सरलता और शीघ्रता से समझने में सहायता मिलेगी। जहाँ तक संस्कृत पर आधारित 'आदिवृद्धि' का संबंध है, 'व्यावहारिक', 'लाक्षणिक' आदि प्रचलित संस्कृत तत्सम शब्दों में आदिवृद्धि का प्रयोग ही अपेक्षित है परंतु नवनिर्मित शब्दों में इससे बचा जा सकता है।

13. **हलंत** – नए अपनाए हुए शब्दों में आवश्यकतानुसार हलंत का प्रयोग करके उन्हें सही रूप में लिखना चाहिए।

14. **पंचम वर्ण का प्रयोग** – पंचम वर्ण के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग करना चाहिए, परंतु lens, patent आदि शब्दों का लिप्यंतरण लेंस, पेटेंट या पेटेण्ट न करके लेन्स, पेटेन्ट ही करना चाहिए।

PRINCIPLES FOR EVOLUTION OF TERMINOLOGY APPROVED BY THE STANDING COMMISSION FOR SCIENTIFIC AND TECHNICAL TERMINOLOGY

1. 'International terms' should be adopted in their current English forms, as far as possible, and transliterated in Hindi and other languages according to their genius. The following should be taken as examples of international terms :-

    a) Names of elements and compounds, e.g. Hydrogen, Carbon dioxide, etc.;

    b) Units of weights, measures and physical quantities, e.g. dyne, calorie, ampere, etc.;

    c) Terms based on proper names e.g., marxism (Karl Marx), braille (Braille), boycott (Capt. Boycott), guillotine (Dr. Guillotion), gerrymander (Mr. Gerry), ampere (Mr. Ampere), fahrenheit scale (Mr. Fahrenheit), etc.;

    d) Binomial nomenctature in such sciences as Botany, Zoology, Geology, etc.;

    e) Constants, e.g. π, g, etc.;

    f) Words like Radio, Retrol, Radar, Electron, Proton, Neutron, etc., which have gained practically world-wide usage; and

    g) Numerals, symbols, signs and formulae used in mathematics and other science e.g., sin, cos, tan, log etc. (Letters used in mathematical operation should be in Roman or Greek alphabets)

2. The symbols will remain in international form written in Roman script, but abbreviations may be written in Dev Nagari and

standardised form specially for common weights and measures, e.g., the symbol 'cm' for centimetre will be used as such in Hindi, but the abbreviation in Dev Nagari may be सें.मी.. This will apply to books for children and other popular works only, but in standard works of science and technology, the international symbols only, like cm., should be used.

3. Letters of Indian scripts may be used in geometrical figures e.g., क, ख, ग or अ, ब, स but only letters of Roman and Greek alphabets should be used in trigonometrical relations, e.g., sin A, Cos B, etc.

4. Conceptual terms should generally be translated.

5. In the selection of Hindi equivalents simplicity, precision of meaning and easy intelligibility should be borne in mind. Obscurantism and purism may be avoided.

6. The aim should be to achieve maximum possible identity in all Indian languages by selecting terms :

   a) common to as many of the regional languages as possible, and

   b) based on Sanskrit roots.

7. Indigenous terms, which have come into vogue in our languages for certain technical words of common use, such as तार for telegraph/telegram, महाद्वीप for continent, डाक for post etc., should be retained.

8. Such loan words from English. Portuguese, French, etc., as have gained wide currency in Indian languages should be retained, e.g., ticket, signal, pension, police, bureau, restaurant, deluxe etc.

9. **Transliteration of International terms into Devanagari Script** - The transliteration of English terms should not be made so complex as to necessitate the introduction of new

signs and symbols in the present Devanagari characters. The Devanagari rendering of English terms should aim at maximum approximation to the standard English pronunciation with such modifications as prevalent araongst the educated circle in India.

10. **Gender** - The International terms adopted in Hindi should be used in the masculine gender, unless there are compelling reasons to the contrary.

11. **Hybrid formation** - Hybrid forms in technical terminologies e.g., गारंटित for 'guaranteed', क्लासिकी for 'classical', कोडकार for 'condifier' etc. are normal and natural linguistic phenomena, and such forms may be adopted in practice keeping in view the requirements for technical terminology, viz., simplicity, utility and precision.

12. **Sandhi and Samasa in technical terms** - Complex forms of Sandhi may be avoided, and in case of compound words, hyphen may be placed in between the two terms, because this would enable the users to have an easier and quicker grasp of the word structure of the new terms. As regards आदिवृद्धि in Sanskrit-based words, it would be desirable to use आदिवृद्धि in prevalent Sanskrit tatsama words e.g., व्यावहारिक, लाक्षणिक etc., but may be avoided in newly coined words.

13. **Halanta** - Newly adopted terms should be correctly rendered with the use of 'half' wherever necessary.

14. **Use of Pancham Varna** - The use of अनुस्वार may be preferred to in place of पंचम वर्ण, but in words like 'lens', 'patent', etc. the transliteration should be लेन्स, पेटेन्ट and not लेंस, पेटेंट or पेटेण्ट.

अध्याय 1

मृदा संरक्षण की मूल अवधारणा, परिभाषा, उद्देश्य एवं महत्व

मृदा एक महत्वपूर्ण संसाधन

मृदा प्रकृति द्वारा प्रदत्त एक प्राकृतिक उपहार है जो जैवमण्डल के सभी घटकों के लिए आवश्यक खाद्य पदार्थ उपलब्ध कराती है। यह मानव एवं समस्त प्राणियों का आश्रय स्थल है। मृदा के एक इंच मोटे स्वास्थ्य स्तर को निर्मित होने में 500 से 1000 वर्ष तक लग जाते हैं।

पृथ्वी तल पर मृदा एक अत्यंत महत्वपूर्ण संशाधन है। पृथ्वी का लगभग सभी प्रकार का जीवन इस पर निर्भर रहता है। मृदा भूपृष्ठ पर एक ऐसी परत के रूप में स्थित है, जिसका निर्माण चट्टानों एवं जैव–पदार्थों से होता है तथा जलवायु, वनस्पति, धरातल की प्रकृति व समय अन्य महत्वपूर्ण सहायक तत्व हैं जो मृदा निर्माण में प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप में अपना योगदान देते हैं। मृदा जैवमंडल में ऊर्जा एवं पदार्थों के स्थानांतरण मांगों के लिए माध्यम का कार्य करती है। यह पोषक तत्वों के चक्रण एवं पुनर्चक्रण में भी सहायता करती है। मृदा विभिन्न पौधों एवं जीव–जन्तुओं के लिए अनुकूल आदर्श पर्यावरणीय दशाएं एवं आवास प्रदान करती है।

मृदा का महत्व सर्वोपरि है। मृदा ही वह माध्यम है जिससे बीजों के अंकुरण से लेकर पौधों की वृद्धि एवं विकास हेतु आवश्यक जल एवं पोषक तत्वों की आपूर्ति सुनिश्चित होती है।

मृदा पर हम अपनी आवश्यकता के लिए फसलों का उत्पादन करते हैं। अतः मृदा संरक्षण हमारा परम कर्तव्य हो जाता है। फसलों को उगाते समय थोड़ी-सी सावधनी रखने पर मृदा क्षरण को काफी हद तक कम किया जा सकता है। हमारे देश में मृदा अपरदन की समस्या अति जटिल है। भारत में कुल 329 मिलियन हैक्टेयर भूमि में से करीब 175 मिलियन हेक्टेयर भूमि को किसी न किसी रूप में मृदा संरक्षण की आवश्यकता है, अभी तक कुल 25 मिलियन हैक्टेयर भूमि पर ही संरक्षण का कार्य अपनाया गया है। अभी भी 150 मिलियन हैक्टेयर मृदा का संरक्षण का कार्य अपनाया जाना शेष है। इस राष्ट्रीय धरोहर से प्रतिवर्ष लगभग 600 करोड़ टन ऊपरी परत की मृदा, अपरदन द्वारा बहकर नदी, नालों एवं बाँधों में जमा हो जाती है तथा बाकी समुद्र में चली जाती है। फलस्वरूप प्रत्येक वर्ष देश के किसी न किसी भाग में बाढ़ की समस्या को भी झेलना पड़ता है। यह अपने साथ पेड़–पौधों व अन्य सम्पत्ति को हानि पहुंचाने के साथ–साथ पर्यावरण को भी दूषित करता है। इसके अतिरिक्त लगभग प्रति वर्ष 2.5 मिलियन टन नाइट्रोजन, 3.3 मिलियन टन फॉस्फोरस और 2.6 मिलियन टन पोटाश भी पानी और मिट्टी के साथ ह्रास होकर बह जाता है, जिसकी अनुमानित लागत 700 करोड़ रुपये प्रतिवर्ष हो आती है। इसलिए उसका सीधा असर फसलों की पैदावार एवं पर्यावरण पर पड़ता है। अतः किसानों का प्रमुख कर्तव्य हो जाता है कि इस धरोहर को सुरक्षित रखें एवं उर्वरा शक्ति को नष्ट न होने दें। जैसे-जैसे भूमि की गहराई की ओर जाते हैं मृदा की ऊपरी सतह नीचे की ओर पोषक तत्व कम होते जाते हैं।

भट्टा उद्योग में ईंट बनाने के लिए मृदा उपयोग मे लाई जाती है और इस प्रकार उपजाऊ मृदा से ईंटें बना ली जाती हैं। इस प्रकार

की मृदा में जब बाद में फसल लेते हैं, तो उपज बहुत कम मिल पाती है। इस मृदा की उर्वरा शक्ति को पुनः वापस लाने में 8 से 10 वर्ष तक लगातार गोबर और जीवांश खाद डालना पड़ता है, लेकिन फिर भी वह पहले की हालत में उस मृदा को लाना संभव नहीं होता है।

अपरदन

प्रकृति की शक्तियों द्वारा मृदा का इतनी तीव्र गति से कटाव होने लगे कि उसकी पूर्ति मृदा निर्माणकारी प्रकिया द्वारा न हो सके तो इस स्थिति को मृदा क्षरण या मृदा अवनयन कहते हैं। मृदा अवनयन से अभिप्राय प्राकृतिक व मानवीय कारकों द्वारा मृदा में लाए गए परिवर्तनों से है जिनसे धीरे–धीरे भूमि की उपादेयता कम होती चली जाती है। मृदा संसाधनों के निरंतर दोहन से आज उनके अवनयन की स्थिति उत्पन्न हो गई है। प्राकृतिक पर्यावरण अवनयन के रूप में जब मृदा अपरदन होने लगता है तो मृदा निर्माणकारी प्रकिया (soil forming processes) वाधित होकर पर्यावरण को अवक्रमित कर देती है। मृदा अपरदनीय क्षेत्र कृषि के अयोग्य हो जाता है। साथ ही अधिक मृदा अपरदन से वानस्पतिक आवरण (vegetative cover) भी कम हो जाता है।

जल और वायु जैसे साधनों के द्वारा मृदा की सतह के अनावृत होने की किया को मृदा क्षरण या मृदा अपरदन कहते हैं।

मृदा अपरदन के दुष्प्रभाव

मृदा की ऊपरी सतह के नष्ट होने पर विभिन्न प्रकार से फसलों पर प्रभाव पड़ते हैं और उपज में कमी आ जाती है। इसके मुख्य कारणों को ध्यान में रखते हुए यदि मृदा की ऊपरी सतह को कटने से नहीं बचाया जाएगा तो पौधों को संतुलित पोषक तत्व प्राप्त नहीं हो पाएंगे, जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव पौधों की बढ़वार पर पड़ेगा और अन्त में पैदावार में कमी आ जाएगी। इसके मुख्य कारण इस प्रकार हैं–

1. जीवांश पदार्थों की कमी

भूमि की 0 से 30 सेमी सतह में जीवांश पदार्थ प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं, परंतु जैसे–जैसे गहराई बढ़ती जाती है, वैसे–वैसे इसकी मात्रा में कमी होती जाती है। 2–3 फीट तक की गहराई तक इनकी मात्रा काफी कम हो जाती है। 0–7.5 सेमी तक जैविक कार्बन की मात्रा औसतन 0.72 प्रतिशत तक पायी गई जबकि वह मात्रा 60 सेमी की गहराई पर औसतन 0.42 प्रतिशत तक हो जाती है। जैविक कार्बन जीवांश पदार्थों का मुख्य अंश होता है। यदि किसी भूमि में जैविक कार्बन कम होता है तो उसमें जैविक पदार्थ भी कम मात्रा में होगा। जीवांश पदार्थों का सीधा संबंध पौधों के पोषक तत्वों, भूमि में हवा का आदान–प्रदान एवं नमी को संचित रखने से होता है और इन सभी का सीधा संबंध अंततः फसलों की वृद्धि और पैदावार से होता है।

2. मृदा संरचना पर प्रभाव

भूमि की ऊपरी एवं नीचे की सतह की बनावट में अंतर पाया जाता है। मृदा के नमूनों का विश्लेषण करने पर पाया गया कि भूमि की 0–15 सेमी सतह की बनावट क्ले लोम पाई गई जो नीचे की सतह में सिल्टी क्ले लोम में बदल जाती है। इसका प्रभाव जड़ों के विकास, जीवाणुओं की क्रियाशीलता एवं मृद्रा में पानी संचति करने की क्षमता पर पड़ता है और अंत में फसलों की पैदावार पर भी पड़ता है।

3. मृदा के आभासीय घनत्व पर प्रभाव

मृदा की ऊपरी सतह का आभासीय घनत्व कम होने के कारण यह पौधों की जड़ों के विकास में लाभदायक होती हैं। मृदा में वायु का आदान–प्रदान ठीक प्रकार से होने के कारण भूमि में जड़ों की श्वसन–क्रिया सुचारू रूप से चलती रहती है जिसके कारण पौधों का विकासपूर्ण रूप से होता है। मृदा में वायवीय भाग ठीक अनुपात में होने के कारण मृदा के जीवाणुओं की क्रियाशीलता में अनुरूपता बनी

रहती है, वे अपना कार्य सुचारु रूप से करते हैं, जिसके कारण मृदा की उर्वरा शक्ति पर उसका अच्छा प्रभाव पड़ता है। इसके फलस्वरूप मृदा की उर्वराशक्ति बढ़ती है,जिसके कारण फसलों की पैदावार में भी बढ़ोत्तरी होती है। परंतु मृदा में नीचे की सतह का आभासीय घनत्व अधिक होने के कारण उसमें वायु का आदान–प्रदान कम हो जाता है जिसके कारण सूक्ष्मजीवों की कियाशीलता धीमी पड़ जाती है। जैसे–जैसे मिट्टी का घनत्व बढ़ता है, वैसे–वैसे जीवाणुओं की कियाशीलता कम हो जाती है।

4. सूक्ष्मजीवों का प्रभाव

मृदा की ऊपरी सतह में सूक्ष्मजीवों (microorganisms) की संख्या काफी मात्रा में पायी जाती है, मृदा में विभिन्न प्रकार के सूक्ष्मजीव अपना कार्य सुचारू रूप से करते हैं। कुछ जीवाणु हवा की उपस्थिति में नाइट्रोजन को नाइट्रेट में बदलते हैं और पौधे इसी रूप में प्राप्त करते हैं। जैसे–जैसे मृदा में ऑक्सीजन की कमी होती जाती है इनकी कार्यक्षमता में भी कमी आ जाती है। जैसे–जैसे मृदा का आभासीय घनत्व बढ़ता है तो वायु की कमी के कारण इन जीवाणुओं की संख्या भी कम होती जाती है। ठीक इसी प्रकार जो जीवांश पदार्थ उर्वराशक्ति बढ़ाने के लिए भूमि में डालते हैं, यदि उनको जीवाणु गला–सड़ा न दें तो इन जीवांश पदार्थों का डालना बेकार होगा; उनमें से पौधे पोषक तत्वों को प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं। इस गले–सड़े पदार्थ को ह्यूमस कहते हैं। जीवांश पदार्थों (organic matter) को गला–सड़ा कर ह्यूमस में बदलने के लिए जीवाणु विभिन्न स्तर पर अलग–अलग प्रकार के कार्य करते हैं। यदि किसी अवस्था में नमी और वायु की कमी हो जाए तो ये जीवाणु जिन्हें नाइट्रोसोमोनास एवं नाइट्रोबैक्टर कहते हैं, अपना कार्य ठीक प्रकार से नहीं कर पाते हैं। इस प्रकार मृदा संरचना, आभासीय घनत्व आदि का वायु व नमी पर सीधा प्रभाव होने के कारण जीवाणुओं से सीधा संबंध हो जाता है। इसलिए जीवाणु मृदा की ऊपरी सतह पर अधिक

मात्रा में पाये जाते हैं एवं नीचे की सतह पर कम मात्रा में होते हैं। इसी कारण मृदा की ऊपरी सतह अधिक उपजाऊ होती है और नीचे की सतह में पोषक तत्वों की कमी पायी जाती है।

मृदा की ऊपरी सतह में जीवाणुओं (bacteria) की संख्या अधिक होती है जो गला–सड़ा कर पोषक तत्वों को पौधों के लेने योग्य बनाते हैं। परंतु जैसे–जैसे गहराई में जाते हैं तो जीवांश पदार्थों की कमी होती जाती है, जिसमें नीचे की सतह में पोषक तत्वों की कमी हो जाती है और पौधें को पर्याप्त आहार नहीं मिल पाता है। मृदा में जीवांश पदार्थ की कमी होने के कारण भूमि में पानी सोखने की क्षमता में कमी आ जाती है, मृदा में वायु का आदान–प्रदान भी ठीक नहीं हो पाता है। ह्यूमस का रंग काला होने के कारण नमी को सोखकर मृदा का तापमान उपयुक्त अवस्था तक लाने में लाभदायक होता है, जिसके कारण पौधों की जड़ों का विकास अच्छा होता है और उसका असर फसल की बढ़ोत्तरी एवं पैदावार पर भी पड़ता है।

5. मृदा में जल संचय पर प्रभाव

जिस मृदा में जीवांश पदार्थों की कमी होती है, उन मृदाओं में जल को सोखने एवं संचित रखने की क्षमता में कमी पायी जाती है। जिस मृदा में ह्यूमस की मात्रा अधिक होगी, ऐसी मृदाछिद्रयुक्त होगी, उसमें जल को सोखने एवं संचित करने की क्षमता बढ़ जाती है। ऊपरी सतह पर ह्यूमस की मात्रा अधिक होने के कारण जल को भूमि ज्यादा मात्रा में सोखती है। परंतु यह गुण नीचे की मृदा में कम पाया जाता है। यदि ऊपर की मृदा कटकर बह जाती है तो उसका पौधों की वृद्धि पर प्रभाव पड़ता है और फसलों की बढ़वार एवं उपज कम हो जाती है।

6. पोषक तत्वों पर प्रभाव

मृदा की दशा एवं वहां के वातावरण के अनुसार मृदा की ऊपरी सतह में पोषक तत्वों की काफी मात्रा पायी जाती है, परंतु यह मात्रा

नीचे की सतह में जैसे–जैसे गहराई की तरफ बढ़ते हैं, कम होती जाती है। ऊपर बताए गए सभी कारणों का प्रभाव पोषक तत्वों पर पड़ता है। मृदा की ऊपरी सतह में (0–7.5 सेमी तक) नाइट्रोजन की मात्रा 0.077 प्रतिशत तक पाई गई, वहीं 60 सेमी. की गहराई पर जाकर यह मात्रा कम होकर औसतन 0.066 प्रतिशत रह जाती है।

उपरोक्त कारणों से फसलों को संतुलित पोषक तत्व प्राप्त नहीं हो पाते हैं और पौधों की बढ़वार में कमी आ जाती है जिससे फसलों की उपज में भी कमी आ जाती है। जैसा कि परीक्षणों से पता चलता है कि जब मृदा की ऊपरी सतह की मृदा को 30 सेमी तक हटाते हैं, तो मक्का के पौधों की बढ़वार पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और मक्का में पौधों की ऊंचाई ऊपरी परत 244 सेमी से कम होकर 187 सेमी रह जाती है। पौधों की ऊंचाई घटने का सीधा असर उसके भुट्टों की लम्बाई 20.3 सेमी से घटकर 11.3 सेमी रह जाती है एवं प्रति भुट्टे में दानों की संख्या 527 से घटकर 218 दाने प्रति भट्टे के हिसाब से रह जाती है। प्रति भुट्टे से प्राप्त दानों का वजन भी 114 ग्राम से कम हो जाता है और इस प्रकार प्रति हजार दानों का वजन 215 ग्राम से घटकर 168 ग्राम रह जाता है। इसलिए फसल की उपज में कमी आ जाती है तथा आय में प्रति हैक्टेयर हजारों रुपयों की हानि हो जाती है।

यदि खेत की ऊपरी परत की मिट्टी 30 सेमी. तक हटाया जाए तो मक्का एवं गेहूं की पैदावार में लगातार कमी उसी अनरूप में आ जाती है, जिसमें मृदा की ऊपरी परत की मिट्टी हटाई गई। अतः ऊपरी परत की तुलना में मक्का की औसत पैदावार 35.8 क्विंटल प्रति हैक्टेयर है (कंट्रोल अर्थात् जहां से मृदा नहीं हटायी) से कम होकर 15.0 क्विंटल प्रति है. (30 सेमी मिट्टी हटायी) रह जाती है। मक्का के बाद गेहूं की सिंचित फसल लेने पर बिना मिट्टी हटाए क्षेत्रफल में 51.1 क्विंटल प्रति है. से घटोतरी शुरू होकर 30 सेमी. मृदा हटे हुए

क्षेत्रफल में 43.5 क्विंटल प्रति हे. रह जाती है तथा पैदावार में 15 प्रतिशत की कमी, प्रति वर्ष हो जाती है।

मृदा के ढाल का भी मिट्टी की परत के अपरदन पर सीधा प्रभाव पड़ता है। यदि भूमि कम ढलान वाली है तो वर्षा ऋतु के दौरान उसमें जल बहाव कम होता है एवं मृदा भी जल के साथ कम मात्रा में बह जाती है तथा फसलों को आवश्यक (essential elements) संतुलित मात्रा में प्राप्त होने से पैदावार (yield) भी अधिक प्राप्त होती है। जैसे–जैसे मृदा के ढलान का प्रतिशत बढ़ता जाता है और वह जल अपने साथ मृदा की मात्रा भी अधिक ले जाता है। फसलों की पैदावार में भी उसी अनुसार ह्रास होता जाता है तथा यह अधिक पानी का बहाव भी बाढ़ का कारण बनता है एवं पर्यावरण को भी हानि पहुंचाता है, इसलिए मृदा एवं जल संरक्षण की क्रियाओं को अपनाना आवश्यक है।

उपरोक्त सभी आंकड़ों का आकलन करते हुए किसानों को अपनी मृदा को सुरक्षित रखने के लिए हर संभव प्रयास करने चाहिए। ढ़ालदार खेतों पर ढाल के विपरीत बुआई लाइनों में करनी चाहिए। फसलों की समय से बुआई करना चाहिए, कटावरोधी फसलों के साथ कटाव अवरोधी फसलों को लगाना चाहिए। कटाव रोधी फसलों (मक्का आदि) में पौधे से पौधे के बीच का अंतर कम करके कतारों से कतारों की दूरी बढ़ाकर इनके मध्य में लोबिया या सोयाबीन की फसलें लेने से जल बहाव में कमी के साथ-साथ मृदा भी कम ही बहकर जा पाएगी। फसलों की पंक्तियों के बीच में बिछावन (पलवार) का उपयोग भी लाभदायक रहता है। भूमि में उचित दूरी पर कंटूर बंध बनाने चाहिए एवं उसमें ढाल के अनुरूप ग्रड देने चाहिए एवं अधिक ढाल भूमि को सीढ़ीनुमा खेतों में बदलना चाहिए। यदि हो सके तो ऊपरी उपजाऊ मिट्टी को हटाकर अलग रख लेना चाहिए और फिर सीढ़ीनुमा खेत बनाने के पश्चात् उस मिट्टी को ऊपरी सतह पर फैला देना चाहिए। उपरोक्त सावधानियों को अपनाकर उपज में होने

वाली कमी को रोका जा सकता है जिससे आर्थिक लाभ के साथ–साथ बाढ़ों पर नियंत्रण एवं पर्यावारण में सुधार आसानी पूर्वक लाया जा सकता है।

मृदा संरक्षण की मूल अवधारणा

मृदा की स्थलाकृति, भौतिक, रासायनिक तथा जैविक गुणों तथा उत्पादकता में पर्याप्त विभिन्नता पाई जाती है। कुछ मृदाएं खेती के लिए सर्वथा उपयुक्त होती हैं तो कुछ सर्वथा अनुपयुक्त। कुछ मृदाएं ऐसी होती हैं जिनमें अपरदन आदि की जो समस्यांए पाई जाती हैं, उनका निवारण करके फसलें उगाई जा सकती हैं। इसके विपरीत कुछ मृदाओं की समस्याएं इस सीमा तक विषम होती हैं कि अनेक संरक्षण उपायों के अपनाए जाने के बाद भी फसलें नहीं ली जा सकतीं और उनको स्थायी रूप से चारागाह अथवा वन–प्रबंधन के अतंर्गत रखना पड़ता है।

वास्तव में जीवन यापन के लिए मृदा का कृषि के लिए उपयोग में लाना एक अपरिहार्य आवश्यकता है तथा त्वरित मृदा अपरदन अनिवार्य परिणाम। चूँकि बिना किसी क्षरण के मृदा का उपयोग संभव नहीं है, अतः मृदा संरक्षण या मृदा अपरदन नियंत्रण का अभिप्राय मृदा अपरदन को एक अनुमेय सीमा के अंदर बनाए रखना है।

मृदा अपरदन, क्षरणशील एवं क्षरणीय कारकों की पारस्पारिक क्रियाओं का फलन है, अतः इन दो कारकों का सम्भाव्य नियंत्रण करके अपरदन की दर व तीव्रता को कम किया जा सकता है। इस उद्देश्य को दो प्रकार से पूरा किया जा सकता है–

1. *क्षरणशील ऊर्जा का विक्षेपण करके*
2. *मृदा में अपरदन प्रतिरोधी गुणों की वृद्धि करके*

इन दोनों ही दशाओं में केवल अपरदनीय कारकों अर्थात मृदा संबंधी कारकों का ही उपचार व्यावहारिक रूप से संभव हो सकता है, जिसके अंतर्गत मृदा–प्रबंधन एवं सस्य-प्रबंधन की विभिन्न

कार्य–प्रणालियां सम्मिलित हैं। इनको उपलब्ध वाह-क्षेत्र की दशाओं के अनुसार इस प्रकार समायोजित किया जा सकता है जिससे कि क्षरण दर अनुमेय सीमा के अंदर ही नियंत्रित रहे।

अनुमेय सीमा का निर्धारण

किसी दिए गए क्षेत्र के लिए क्षरण की अनुमेय सीमा का निर्धारण करने के लिए अपरदन–कारकों का अधिकतम प्रभाव मृदा हानि की अधिकतम दर के रूप में ज्ञात किया जा सकता है। उदाहरण के लिए ऐसे प्रतिदर्श–प्रयोग–प्रक्षेत्र चुने जा सकते हैं कि जिन पर न तो बरसती बूंदों और अपवाह जल के वेग, गतिज ऊर्जा (जल क्षरण के संदर्भ में), वायु का वेग एवं विक्षोभ (वायु क्षरण के संदर्भ में) आदि को विक्षेपित करने के लिए वानस्पतिक प्रतिरोध ही प्रदान किए गए हों और न ही भूमि कणों के विलगन और परिवहन को किसी सीमा तक रोकने के लिए मृदा एवं सस्य प्रबंधन संबंधी संरक्षण विधि ही अपनाई गई हो। ऐसी दशाएं मानक दशाएं कहलाती हैं जिनसे प्राप्त मृदा हानि की दर को मृदा अपरदन की "अनुमेय सीमा" स्वीकार किया जा सकता है। यह सीमा भिन्न–भिन्न क्षेत्रीय परिस्थितियों में भिन्न–भिन्न हो सकती है।

मृदा संरक्षण : परिभाषा

मृदा संरक्षण का तात्पर्य मृदा के विवेकपूर्ण उपयोग से है जिससे कि इसे दीर्घकाल तक सुरक्षित रखा जा सके। मृदा संरक्षण का तात्पर्य मृदा का मानव उपयोग के लिए विकास करने से भी है। वैज्ञानकि दृष्टिकोण से मृदा संरक्षण का अर्थ केवल परिरक्षण अथवा सुरक्षा से नहीं है अपितु मृदा के ऐसे प्रबंधनों से है जिसके द्वारा मृदा का उपयुक्त प्रयोग करने पर भी उसके स्वरूप में परिवर्तन न हो।

मृदा संरक्षण का तात्पर्य मृदा की सामर्थ्य के अनुसार उपयोगिता से है। योजना समिति के अनुसार मृदा संरक्षण के अंतर्गत मृदा

प्रबंधनों की वे समस्त विधियां तथा उपागम आते हैं जिनके द्वारा मृदा की उपजाऊ शक्ति को पूर्णरूप से नष्ट होने से बचाया जा सके।"

मृदा संरक्षण : उद्देश्य एवं महत्व

मृदा संरक्षण के अंतर्गत मृदा का उपयोग उसकी उपयोग क्षमता (land use capability) के अनुसार किया जाता है। यद्यपि यह सही है कि सघन खेती द्वारा उत्पादन बढ़ाया जा सकता है परंतु इस तरह मृदा को अधिक समय तक उत्पादनशील एवं सुरक्षित बने रहने का आश्वासन प्राप्त नहीं हो सकता, परंतु मृदा संरक्षण सिद्धांत पर आधारित खेती द्वारा भूमि को लम्बी अवधि तक उत्पादनशील (productive) एवं सुरक्षित रखा जा सकता है।

मृदा उर्वरता में सुधार होने पर फसलों की वृद्धि अधिक होती है। परिणामस्वरूप मृदा को एक उत्तम प्रकार का रक्षात्मक आवरण प्राप्त होता है। खादों एवं उर्वरकों के संतुलित प्रयोग द्वारा मिट्टी के भौतिक, रासायनिक तथा जैविक गुणों में सुधार लाकर मृदा अपरदन को नियंत्रित किया जा सकता है।

मृदा में की जाने वाली भू–परिष्करण क्रियांए (tillage) तथा अपनाई जाने वाली संरक्षण–प्रणालियां मृदा के अपरदन को महत्वपूर्ण अंशों तक प्रभावित करती हैं। न्यूनतम भूपरिष्करण, समोच्च खेती, वेदिका खेती, पट्टिका खेती, मेड़बंदी आदि संरक्षण विधियों को अपनाकर मृदा अपरदन को काफी हद तक नियंत्रित किया जा सकता है।

इनके अतिरिक्त फसल-प्रबंध की संरक्षण विधियों जैसे संरक्षण सस्यावर्तन (फसल-चक्र) तथा आवरण-सस्य आदि को अपना कर मृदा की क्षरणीयता को कम किया जा सकता है।

मृदा संरक्षण : एक राष्ट्रीय आवश्यकता

मृदा अपरदन की समस्या एक गम्भीर राष्ट्रीय समस्या है। मृदा

एक ऐसा प्राकृतिक संसाधन है जिसकी क्षतिपूर्ति या पुनर्निर्माण करना अत्यंत कठिन है। चूंकि मनुष्य अपनी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मृदा पर ही निर्भर रहता है, अतः मानव जाति के अस्तित्व के लिए तथा किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए मृदा अत्यधिक मूल्यवान संसाधन है। मृदा की ऊपरी सतह के अपरदन के परिणाम किसी भी देश तथा मानव जाति के लिए भंयकर हो सकते हैं। हमारे देश में मृदा अपरदन द्वारा प्रतिवर्ष अरबों रुपए के बराबर आर्थिक हानि हो रही है तथा संपूर्ण राष्ट्र को पर्यावरणीय समस्याओं के दुष्परिणाम भी भुगतने पड़ रहे हैं।

जलवायु की समुचित दशाओं तथा अच्छे वानस्पतिक आवरण होने पर प्रकृति को एक इंच मोटी मृदा की परत बनाने में लगभग 800 से 1000 वर्ष लगते हैं किंतु उचित मृदा प्रबंध नहीं होने के कारण तथा जलग्रहण क्षेत्रों के दोषपूर्ण प्रबंध के कारण इन उपजाऊ मिट्टियों का समुचित उपयोग नहीं हो पा रहा है। यही कारण है कि हमारे देश के अनेक भागों की उपजाऊ कृषि योग्य भूमि बंजर भूमि में परिवर्तित हो गई है। यही प्रवृत्ति विश्व के अनेक भागों में देखने को मिल रही है।

मृदा अपरदन की समस्या इतनी गंभीर समस्या है कि इसके निरंतर बढ़ते रहने से हमारे देश में भविष्य में मानव जाति को भुखमरी का सामना करना पड़ सकता है। जिस प्रकार युद्ध से किसी भी राष्ट्र का शीघ्र पतन होता है उसी प्रकार मृदा अपरदन पर नियंत्रण न करने से शीघ्र ही राष्ट्र का विनाश हो सकता है। मृदा अपरदन एक व्यक्तिगत समस्या न होकर ऐसी राष्ट्रीय समस्या है जिसका निराकरण राष्ट्रीय स्तर पर होना चाहिए। मानव का अस्तित्व बनाए रखने के लिए और राष्ट्रों में आर्थिक स्थिरता के लिए मृदा का संरक्षण अत्यंत आवश्यक है। संरक्षण का उद्देश्य यह होता है कि प्राकृतिक संसाधनों से अधिक से अधिक लाभ उठाया जाए और इसके साथ–साथ उनकी उत्पादकता को कायम रखा जाए और लगातार बढ़ाया जाए।

❑❑❑

अध्याय 2

मृदा संरक्षण के लिए केंद्र तथा उ.प्र. सरकार की विभिन्न योजनाएं

भारत में मृदा संरक्षण संबंधी अनुसंधान कार्यों का ऐतिहास

वर्तमान युग में मृदा अपरदन संबंधी अनुसंधान कार्य सर्वप्रथम जर्मन वैज्ञानिक वूलनी (Woolny) द्वारा 1877–1895 में किया गया जिसके अंतर्गत वनस्पतियों एवं मृदा पलवार (soil mulch) आदि का प्रभाव वर्षा जल से अंतःरोधन, मृदा संरचना के विखंडन और अपवाह तथा क्षरण पर देखा गया। इसके साथ ही संयुक्त राज्य अमेरिका में भी सन् 1850 से ही अनुसंधान कार्य जारी रहे। सन् 1907 में संयुक्त राज्य कृषि विभाग ने भूमि सुरक्षा संबंधी सरकारी नीति घोषित की। सन् 1935 में एच.एच.बेनेट (H.H. Bennett) के प्रयास से मृदा संरक्षण सेवा (Soil Conservation Service) की स्थापना की गई जिसका प्रथम मुख्याधिकारी डॉ. बेनेट को नियुक्त किया गया। डॉ. बेनेट की मृदा संरक्षण संबंधी सेवाएं आज भी अतुलनीय हैं। यही कारण है कि उसे

मृदा संरक्षण का पिता (Father of soil conservation) कहा जाता है।

भारत में मृदा संरक्षण संबंधी कानून सर्वप्रथम पंजाब में 1904 में पारित किया गया जिसके अंतर्गत बाटबंदी, समोच्च, खाइयां, खड्ड नियंत्रण, वेदिका खेती, वृक्षारोपण और वनसुरक्षा की व्यवस्था पर जोर दिया गया। परंतु योजनाबद्ध कार्य 1939 में ही प्रारंभ हुआ क्योंकि तब सहकारी समितियों के माध्यम से जन सहयोग प्राप्त होने लगा था।

महाराष्ट्र में 1939 में मृदा संरक्षण संबंधी कार्यों, जैसे मेंडबंदी और शुष्क खेती की योजनाएं चालू की गई। यह कार्य तब और भी तेज हो गया जब 1942 में भूमि सुधार कानून पास किया गया तथा कुसरो वाहिया कोष (Cusrow Wadia Fund) की व्यवस्था हो जाने से प्रथम पंचवर्षीय योजना में लगभग 0.6 मिलियन हैक्टेयर भूमि में समोच्च मेंड़बंदी की गई।

इसी प्रकार का कानून तमिलनाडु में, 1949 में पास किया गया, जिसके अंतर्गत समोच्च मेड़ें तथा खाइयां बनाई गई। उत्तर प्रदेश में मृदा संरक्षण संबंधी कार्य 1884 में आरंभ हुआ जब जमींदारों से खड्डयुक्त व बेकार भूमियां क्षरण–नियंत्रण, चारा उत्पादन, ईंधन उत्पादन हेतु ले ली गई।

केंद्र सरकार द्वारा क्रियान्वित की जाने वाली विभिन्न योजनाएं

मृदा संरक्षण के लिए सर्वप्रथम 1953 में केंद्र सरकार द्वारा मृदा संरक्षण बोर्ड (Soil Conservation Board) की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य मृदा संरक्षण कार्यक्रम बनाना तथा इस संबंध में राज्य सरकारों को सलाह देना है। 1952 में जोधपुर में मरूस्थल वृक्षारोपण तथा अनुसंधान केंद्र खोला गया। 1954 में देश में 10 केंद्रीय एवं जल संरक्षण, शोध, प्रशिक्षण एवं प्रदर्शन संस्थान खोले गए। इनकी स्थापना–देहरादून, जोधपुर, कोटा, छत्तर (नेपाल), बेलारी, इब्राहिमपटनम, वसद, आगरा, उटकमंड तथा चंडीगढ़ में की गई। मृदा क्षरण मुख्यतया

नदियों के जलागम क्षेत्रों से हो रहा है। इसलिए विश्व बैंक केंद्र सरकार तथा राज्य सरकारों द्वारा जलागम, प्रबंध की योजनाएं प्रारंभ की गई। इसके अतिरिक्त वनीकरण की ओर भी विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

निरंतर बढ़ती हुई जानकारी तथा मृदा संरक्षण की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने 1953 में केंद्रीय मृदा संरक्षण बोर्ड (soil conservation board) की स्थापना की। यह बोर्ड पूरे देश में मृदा संरक्षण संबंधी कार्यों के संचालन एवं अनुसंधान कार्यों के लिए दस केंद्रीय अनुसंधान एवं प्रशिक्षण केंद्रों की स्थापना कर चुका है जो इस प्रकार हैं:

अनुसंधान केंद्र		कार्यक्षेत्र
1. देहरादून 2. चंडीगढ 3. छत्र	–	पंजाब, हिमाचल प्रदेश और उत्तराखंड क्षेत्रों की अपरदन समस्याएं
4. कोटा 5. आगरा 6. बासद	–	उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान और गुजरात
7. उटकमंड	–	नीलगिरि के पर्वतीय क्षेत्रों वर्षा की दशाओं में उत्पन्न अपरदन–समस्याएं।
8. बेलारी	–	महाराष्ट्र, तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश और कनार्टक प्रदेशों की काली मृदा की समस्याएं।
9. जोधपुर	–	मरुस्थलीय क्षेत्रों की बलुई मृदा की समस्याएं
10. इब्राहिम पटनम	–	लाल मृदा की समस्याएं

इसके अतिरिक्त, विभिन्न राज्यों में मृदा संरक्षण अनुसंधान एवं प्रशिक्षण केंद्र कार्यरत हैं। देहरादून में अधिकारियों को प्रशिक्षित किया जाता है। बेलारी, उटकमंड और कोटा में सहायक भूमि संरक्षण निरीक्षकों का प्रशिक्षण होता है। दामोदर–घाटी–निगम, हजारी बाग, झारखंड तथा राज्य मृदा संरक्षण प्रदर्शन व प्रशिक्षण केंद्र रहमानखेड़ा (उत्तर प्रदेश) में भी मृदा संरक्षण निरीक्षकों को प्रशिक्षित किया जाता है। इसी प्रकार के प्रशिक्षण केंद्र अन्य कई राज्यों में भी खोले गए हैं।

उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा क्रियान्वित की जाने वाली विभिन्न योजनाएं

प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन की योजनाएं, बारानी कृषि हेतु राष्ट्रीय जलागम विकास योजना

चयनित जनपद - 46

सहारनपुर, आगरा, बदायूं, कानपुर (नगर), कानपुर (देहात), उन्नाव, फतेहपुर, कौशाम्बी, इलाहाबाद, मिर्जापुर, लखीमपुर खीरी, सीतापुर, झांसी, जालौन, ललितपुर, हमीरपुर, महोबा, बांदा, बलिया, सन्तरविदासनगर आजमगढ़, बाराबंकी, सिद्धार्थनगर, महाराजगंज, देवरिया, पडरौना, गोंडा, बलरामपुर, चित्रकूट, बहराइच, श्रावस्ती, बुलंदशहर, गौतमबुद्ध नगर, मैनपुरी, एटा, बरेली, बिजनौर, मुरादाबाद, कन्नौज, फर्रुखाबाद, ओरैया, गाजीपुर, मऊ, बस्ती, लखनऊ, हरदोई, फैजाबाद, अम्बेडकरनगर, सुल्तानपुर, रायबरेली, संत कबीरनगर, गोरखपुर।

1. योजनांतर्गत अनुमन्य सुविधाएं

क्र.सं.	कार्यक्रम	अनुमन्य अनुदान की दर	पात्रता
1.3.1	प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन	प्राकृतिक संसाधनों के विकास मद में अनुदान	जलागम क्षेत्र के भू–स्वामित्व वाले

		देय है किंतु व्यक्तिगत कार्य पर सामान्य श्रेणी के कृषकों से 10 प्रतिशत तथा अनु.जाति / जनजाति से 5 प्रतिशत तथा सामुदायिक कार्यों पर सभी 5 प्रतिशत अंशदान लिया जाना अनिवार्य है।	लाभार्थी
1.3.2	भू–स्वामित्व वाले परिवारों के लिए कृषि उत्पादन प्रणाली	1. नई तकनीकियों के परीक्षण हेतु शत–प्रतिशत अनुदान 2. उद्यान, पशुपालन, कृषिवानिकी पौधरोपण एक्वाकल्चर (जलीय खेती) आदि हेतु सामान्य (व्यक्तिगत रूप में)। स्वयं 40% वहन करेगा शेष 60% योजना से अनुदान होगा व एस. सी. / एस.टी. श्रेणी के कृषक व्यक्ति लाभ की स्थिति में 20% स्वयं वहन करेगा व 80% अनुदान होगा। परंतु उपरोक्त अधिकतम सीमा रु. 2400 / – प्रति हेक्टर से अधिक नहीं होगी। 3. कृषि एवं सम्बद्ध कार्यक्रमों में प्रमाणित प्राविधिकी को अपनाने हेतु परिपक्व	उमागम क्षेत्र के अंतर्गत चयनित भू–स्वामित्व वाले परिवार

		यूजर्स समूह के माध्यम से रिवालविंग फण्ड के रूप में ऋण की सीमित सुविधा देय है।	
1.3.3	भूमिहीन परिवारों के लिए जीविका सहायता प्रणाली	परियोजना लागत की 10% धनराशि की सीमा तक भूमिहीन परिवारों के लिए जीविका सहायता प्रणाली हेतु परिपक्व स्वयं सेवी समूह के द्वारा उनकी बचत को दुगुना या रिवालविंग फंड के रूप मे ऋण देय है। अधिकतम सीमा भारत सरकार द्वारा निर्धारित होनी शेष है। विगत वर्ष में 25000 रु. थी।	जलागम क्षेत्र में अंतर्गत चयनित भूमिहीन परिवार

केंद्र पुरोनिर्धारित बाढ़ोन्मुखी योजना

1. योजना का नाम : राम गंगा योजना
   चयनित जनपद – 1 : बिजनौर
2. योजना का नाम : बेतवा
   चयनित जनपद – 4; झांसी, जालौन, हमीरपुर, एवं महोबा
3. योजना का नाम : केन/बागेन
   चयनित जनपद – 6 : हमीरपुर, महोबा, इलाहाबाद, कौशंबी, बांदा एवं चित्रकूट।

योजनांतर्गत कृषकों को अनुमन्य सुविधाएं

क्र.सं.	कार्यमद	अनुमन्य अनुदान की दरें	पात्रता
1.	समोच्च रेखीय बांध, समोच्च रेखीय वानस्पतिक बांध ड्रेनेज लाइन उपचार, अवरोध बांध, जलसंचय बांध, तलछट अवशेष बांध, जलाशय निर्माण आदि।	शत–प्रतिशत अनुदान	लघु सीमांत कृषकों एवं सामुदायिक भूमि पर कार्य हेतु
2.	समतलीकरण	75 प्रतिशत अनुदान	25 प्रतिशत व्यय वहन करने वाले कृषक
3.	कृषि वानिकी/ वनीकरण एवं उद्यान विकास	निःशुल्क (पौध के रूप में)	चयनित जल समेट क्षेत्र में उक्त कार्य हेतु मृदा कार्य स्वयं करने अथवा उस पर होने वाले व्यय का वहन करने वाले कृषक
4.	फसल प्रदर्शन	रु. 1000/– प्रति प्रदर्शन	जल समेट क्षेत्र के चयनित कृषक।

5.	भूमि उपयोगिता	रु. 550/– प्रति हेक्टेयर	तदैव
6.	इन्ट्रीप्वाइंट कार्यक्रम	उप जलसमेट में कुल व्यय का 1 प्रतिशत	उप जल समेट क्षेत्र के समस्त कृषक

2. सेगर/रिंड नदी जलागम क्षेत्र में वर्षा जल संचयन की योजना का मुख्य उद्देश्य :

- वर्षा से प्राप्त जल को विभिन्न विधियों द्वारा रोककर भू–स्तर का सम्भरण करना
- उपलब्ध सिंचाई के जल का वैज्ञानिक विधियों के माध्यम से जल उपयोग क्षमता का विकास करना।
- भूमि की उत्पादन क्षमता में अभिवृद्धि कर कृषि उत्पादन बढ़ाना
- जलागम प्रबंधन में स्थानीय लाभार्थियों की सहभागिता सुनिश्चित कर कार्यक्रम के प्रति उनकी भागीदारी सुनिश्चित करना।

योजना का क्षेत्र : अलीगढ़, एटा, हाथरस, मैनपुरी, इटावा एवं फतेहपुर जनपद।

प्रस्तावित कार्य : समोच्च रेखीय बांधनिर्माण, पेरीफरल/मार्जिनल बांध, समतलीकरण, ड्रेनेज लाइन उपचार, पक्की संरचनाओं का निर्माण, फसल प्रदर्शन एवं कृषक प्रशिक्षण आदि मुख्य कार्यक्रम प्रस्तावित हैं।

कृषकों को दी जाने वाली सुविधाएं :

- जल उपयोग क्षमता पर शत–प्रतिशत अनुदान
- फसल प्रदर्शन पर 1000/– प्रति प्रदर्शन अनुदान।

1. कृष्णा नदी के जलागम क्षेत्र में जल संभरण की योजना :

उद्देश्य :

1. वर्षा से प्राप्त जल को विभिन्न विधियों द्वारा रोककर भू–स्तर का संभरण करना।

2. जल निकास नालियों के माध्यम से बहकर बेकार हो जाने वाले जल का रिसाइकिल कर उपयोग करना।

3. जलागम क्षेत्र में कम पानी चाहने वाली फसलों के उत्पादन को प्रोत्साहन देना।

4. उपलब्ध सिंचाई के जल का वैज्ञानिक विधियों से जल उपयोग क्षमता का विकास करना।

परियोजना क्षेत्र : जनपद मुफ्फरनगर, बागपत एवं सहारनपुर। कृष्णा नदी का कुल जलागम क्षेत्र 130 लाख हेक्टेयर तथा इसकी कुल लंबाई 151.75 किमी. है।

प्रस्तावित कार्य :

- भूमि पर जल फैलाव द्वारा।
- कुएं का निर्माण कर भू-जल का पुनर्भरण।
- गहरे भू-जल स्तर पर नलकूप द्वारा पुनर्भरण।
- सिंचाई को वैज्ञानिक विधि का प्रयोग कर जल उपयोग क्षमता बढ़ाना।

कृषकों को दी जाने वाली सुविधाएं :

- जल संचय तालाबों का निर्माण, कृष्णा नदी में अवरोध बांध का निर्माण उपलब्ध जल निकास की क्षमता में वृद्धि कर स्टाप डैम के माध्यम से जल संचय कर जल संभरण, कुओं का निर्माण का भू-जल का निर्माण गहरे भू-जल का स्तर नलकूप द्वारा पुर्नभरण, सिंचाई का वैज्ञानिक विधियों द्वारा जल उपयोग क्षमता में वृद्धि पर शत–प्रतिशत अनुदान।

- जल संभरण एवं सिंचाई विधियों के प्रदर्शन पर रु. 1000/- प्रति प्रदर्शन अनुदान।

वित्तीय स्वरूप :

- मैक्रो मैनेजमेन्ट आफ एग्रीकल्चर के अंतर्गत 90 प्रतिशत भारत सरकार तथा 10 प्रतिशत राज्य सरकार द्वारा वहन किए जाने का प्रावधान है।

2. मृदा सर्वेक्षण :

उद्देश्य : भूमि की उपयोगिता के लिए वर्गीकरण करना।

कार्यक्षेत्र : संपूर्ण उत्तर प्रदेश

कृषकों को दी जाने वाली सुविधाएं :

- भूमि के उपयोग के संदर्भ में जानकारी देना।
- (मृदा स्वास्थ्य कार्ड वितरण द्वारा) विकास खंड के चयनित ग्राम में।
- जायद, खरीफ व रबी में गोष्ठी आयोजित कर कृषकों को भू-उपयोग क्षमता व उर्वरता के बारे में प्रशिक्षण देना।

3. मृदा परीक्षण की योजना :

उद्देश्य : योजना के मुख्य उद्देश्य निम्नवत् हैं :

1. फसल विशेष हेतु उर्वरकों की सही मात्रा का निर्धारण।
2. भूमि में उपलब्ध मुख्य/द्वितीयक एवं सूक्ष्म पोषक तत्वों की मात्रा ज्ञात करना।
3. मृदा उर्वरता मानचित्र तैयार करना एवं कृषकों का मार्ग दर्शन।

4. मृदा परीक्षण संस्तुतियों के आधार पर संतुलित मात्रा में उर्वरकों के प्रयोग हेतु कृषकों को प्रेरित करना।

कार्यक्रम : संपूर्ण उत्तर प्रदेश के 70 जनपदों में।

कृषकों को दी जाने वाली सुविधाएं :

- मात्र रु. 7/- शुल्क लेकर मृदा नमूनों के मुख्य पोषक तत्वों का विश्लेषण।
- लक्ष्य के 10 प्रतिशत सीमा तक सीमांत कृषकों के नमूनों को निःशुल्क विश्लेषण की सुविधा।
- मात्र रु. 10/- शुल्क लेकर सचल मृदा परीक्षण प्रयोगशाला द्वारा मुख्य पोषक तत्वों का विश्लेषण।
- मात्र रु. 30/- शुल्क लेकर गंधक (सल्फर) एवं सूक्ष्म पोषक तत्वों का विश्लेषण।

प्रदेश में भूमि विकास एवं जल संरक्षण की किसान हित योजना

बढ़ती हुई आबादी एवं कृषि भूमि के निरंतर गैर कृषि कार्यों में परिवर्तित होने के फलस्वरूप खाद्यान्न की आवश्यकता को पूरा करना वर्तमान में एक गंभीर चुनौती है। इस परिप्रेक्ष्य में यह आवश्यक है कि अकृष्य भूमि को सुधार कर कृषि के अंतर्गत लाया जाए एवं समस्याग्रस्त होने के कारण कम उपजाऊ कृष्य भूमि को भी सुधार कर उसके उत्पादन/उत्पादकता में वृदधि की जाए। प्रदेश में लगभग 51.40 लाख हैक्टेयर भूमि अभी भी ऐसी है जिसके विकास की आवश्यकता है।

योजना के उद्देश्य :

उपर्युक्त समस्याओं को ध्यान में रखते हुए प्रदेश में भूमि विकास एवं जल संरक्षण की योजना इस उद्देश्य से तैयार की गई है जिससे समाज के सबसे निचले वर्ग, विशेष रूप से दलित एवं पिछड़े वर्ग के

लोगों की समस्याग्रस्त भूमि का उपचार हो सकेगा तथा वे अपनी ही भूमि पर कार्य करते हुए दैनिक मजदूरी भी प्राप्त करेंगे तथा इनमें से बहुत से लाभार्थी आबंटी की श्रेणी से निकल कर अंक्रमणीय/संक्रमणीय भूमिधर की श्रेणी में परिवर्तित हो जाएंगे। यह योजना रोजगार बढ़ाने की सकारात्मक पहल को भी पूरा करने में सहायक होगी

योजना का कार्य क्षेत्र:

योजना प्रदेश के समस्त 70 जनपदों में प्रस्तावित है।

वर्ष 2008–09 के प्रस्तावित लक्ष्य:

भौतिक – 140,000 है. वित्तीय रु. 17,055.50 लाख

2. कुशल जल प्रबंधन योजना :

उत्तर प्रदेश के बारानी कृषि में वर्षा जल तथा सिंचित क्षेत्रों में सतही जल एवं भूमिगत जल के प्रबंधन हेतु यह योजना संचालित की जा रही है जिससे समस्याग्रस्त क्षेत्रों में कम वर्षा जल का अधिकाधिक मात्रा में संरक्षित कर भूमिगत जल स्तर को बनाए रखा जाए, साथ ही उसका सिंचाई हेतु सम्यक रूप से प्रयोग किया जाए। इसी प्रकार जहां सिंचाई की सुविधाएं उपलब्ध हैं, उन क्षेत्रों में भी जल का समुचित एवं न्यूनतम प्रयोग कर कम से कम पानी से अधिक क्षेत्र की सिंचाई की जा सके।

योजना का कार्य क्षेत्र

प्रदेश के समस्त 70 जनपद।

वर्ष 2008–09 के प्रस्तावित लक्ष्य :

भौतिक – 32,800 है. वित्तीय रु. 3,268.50 लाख

3. बुंदेलखंड क्षेत्र में वर्षा जल संचयन एवं सिंचाई की योजना :

बुंदेलखंड क्षेत्र में सभी जनपदों में वृहद् स्तर पर स्प्रिंकलर (फव्वारा) एवं ड्रिप (टपकदार) सिंचाई प्रणाली की सुविधा उपलब्ध

कराने का निर्णय लिया गया है, जिसके अंतर्गत सर्व समाज में लघु एवं सीमांत कृषकों तथा अनुसूचित जाति/जनजाति के सभी कृषकों/कृषकों समूहों के लिए शासकीय व्यय पर उक्त यंत्रों के माध्यम से सिंचाई की व्यवस्था की जाएगी। साथ ही अन्य कृषकों को भी इन यंत्रों पर 75 प्रतिशत अनुदान दिया जाएगा।

योजना का कार्य क्षेत्र:

बुंदेलखंड क्षेत्र के समस्त जनपद यथा–झांसी, जालौन, ललितपुर, महोबा, हमीरपुर, बांदा एवं चित्रकूट।

वर्ष 2008–09 के प्रस्तावित लक्ष्य :

भौतिक – 22,000 है. वित्तीय रु. 10,022.50 लाख

समेकित बंजर भूमि विकास योजना

चयनित जनपद–14

आगरा, फिरोजाबाद, इटावा, झांसी, बिजनौर, मिर्जापुर, अलीगढ़, सीतापुर, औरैया, शाहजहांपुर, फ़ैजाबाद, बाराबंकी, बदायूं, अंबेडकरनगर।

क्र.सं.	मद का नाम	अनुमन्य अनुदान की दर
1.	जल समेट क्षेत्र विकास	1. अनुसूचित जाति/जनजाति को 95 प्रतिशत अनुदान। 2. अन्य कृषकों को 90 प्रतिशत अनुदान 3. सामुदायिक भूमि/सामुदायिक कार्य पर 95 प्रतिश अनुदान।

सूखोन्मुख क्षेत्रीय विकास कार्यक्रम :

चयनित जनपद – 4

झांसी, जालौन, महोबा, बांदा

क्र.सं.	मद का नाम	अनुमन्य अनुदान की दर
1.	सूखोन्मुख क्षेत्रीय विकास कार्य	1. अनुसूचित जाति/जनजाति को 95 प्रतिश अनुदान। 2. अन्य कृषकों को 90 प्रतिशत अनुदान 3. सामुदायिक भूमि/सामुदायिक कार्य पर 95 प्रतिशत अनुदान।

इंटीग्रेटेड रेनवाटर मैनेजमेंट (वाटरशेड डेवलपमेंट प्रोजेक्ट) इन दि ईको–सिस्टम गंगा एवं यमुना रिवर कैंचमैट यू.पी.

(आर, आई.डी.एफ.–11, 12, एवं 13 नाबार्ड)

उद्देश्य : 1. कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता में बढ़ोतरी हेतु प्रभावी नमी संरक्षण एवं वर्षा जल का संचयन कर वर्षा आधारित खेती को बढ़ावा देना।

2. खाद्यान्न, ईंधन, चारा एवं रेशा उत्पादन के सतत विकास हेतु जल समेट क्षेत्र के आधार पर बीहड़ पारितंत्र में भूमि एवं जल संसाधन का संरक्षण, विकास एवं प्रबंध करना।

3. वर्षा जल संरक्षण के माध्यम से भूसतह एवं भूगर्भ जल स्तर में वृद्धि कर पर्यावरण सुधार एवं जैव विविधता में वृद्धि।

4. रोजगार सृजन के सुनिश्चित अवसर प्रदान करना।

5. परियोजना क्षेत्र में लाभार्थियों की आर्थिक स्थिति में वृदधि करते हुए जीवन स्तर में सुधार लाना।

कृषकों को देय सुविधाएं

- अनुसूचित जाति एवं जनजाति के कृषकों से लागत का 95 प्रतिशत अनुदान एवं शेष 5 प्रतिशत देय है।
- लघु/सीमांत कृषकों से लागत का 90 प्रतिशत अनुदान एवं 10 प्रतिशत कृषक अंश के रूप में देय है।
- बड़े कृषकों की भूमि पर कराए गए निजी लाभ के कार्यों पर कोई अनुदान देय नहीं है। उनकी वसूली उ.प्र. भूमि एवं जल संरक्षण अधिनियम 1963 के अधीन बकाया भू–राजस्व द्वारा किया जाएगा।

वित्तीय स्वरूप :

योजनांतर्गत होने वाले व्यय का वहन 95 प्रतिशत नाबार्ड द्वारा प्रदेश सरकार को ऋण के स्वरूप में 5 प्रतिशत राज्य सरकार को करना है।

मृदा अपरदन की गंभीरता तथा संरक्षण के लिए वैज्ञानिक स्तर पर देश में सर्वप्रथम 1952 में आयोजित भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के सुझावों को महत्व दिया गया है। इसके अतिरिक्त केंद्रीय शुष्क क्षेत्र अनुसंधान संस्थान तथा केंद्रीय जल एवं मृदा संरक्षण विभाग देहरादून तथा अनेक विश्वविद्यालयों एवं शोध संस्थानों में मृदा संरक्षण के लिए अनेक योजनाएं बनाई जा रही हैं।

योजनाओं की सफलता के लिए आवश्यकताएं

मृदा संरक्षण मृदा अपरदन की रोकथाम के लिए निम्नांकित सुझाव सहायक सिद्ध हो सकते हैं :

1. बड़े पैमाने पर वन विनाश, अत्यधिक कटाई तथा अत्यधिक पशु चराई को रोका जाए। पशुचारण के लिए निश्चित भूमि पर व्यवस्था करनी चाहिए।

2. पवतीय क्षेत्रों में नदी घाटी के दोनों ओर ढालू क्षेत्रों में तथा स्पर क्षेत्रों में मृदा को बांधने व रोकने वाली वृक्ष प्रजातियां एवं फलोद्यानों का विकास किया जाए।

3. पर्वतीय तथा पठारी क्षेत्रों में सड़क निर्माण के लिए अत्यधिक शक्तिशाली विस्फोटक पदार्थों का उपयोग न किया जाए। पर्वतीय क्षेत्रों में सड़क निर्माण के स्थान पर रज्जू मार्गों का विकास भी किया जाए।

4. भूमिगत तथा सतही जलराशि का उपयोग छोटी–छोटी गूलों तथा नहरों के रूप में किया जाना चाहिए।

5. सड़क मार्गों के आस-पास मृदा क्षरण को रोकने के लिए दोनों तरफ, शक्तिशाली जल अवरोधक निर्मित किए जाए। साथ की कांटेदार तारों से भी अवरोधक बनाए जाए।

6. पर्वतीय क्षेत्रों में सड़क को पार करने वाली मौसमी अथवा सदाबहार छोटी-बड़ी नालियों को सीमेंट पाइप द्वारा पार कराया जाए।

7. नदी घाटी के दोनों ओर ढालू क्षेत्रों में परंपरागत रूप से होने वाली अवैज्ञानिक कृषि में भी सुधार होना चाहिए।

8. स्पर तथा सीढ़ीदार ढालू क्षेत्रों में मृदा को मजबूती से बांधने वाली घासों का विकास किया जाए जिससे मृदा क्षरण रुक सके।

9. नदियों, नालों के किनारे तथा ढालू मैदानी क्षेत्रों में छोटे–छोटे बांध बनाकर जल का प्रवाह रोका जाए। बांध स्थल पर तथा जलाशय के चारों ओर एवं जलाशय क्षेत्रों में मृदा को बांधने वाले पौधे लगा दिए जाए।

10. उत्तर पूर्वी भारत के पर्वतीय क्षेत्रों में झूम कृषि का विकल्प ढूंढ़ा जाए तथा झूम कृषि पर आश्रित लोगों की आजीविका का कोई दूसरा साधन व माध्यम उपलब्ध कराया जाए।

11. मैदानी क्षेत्रों में बहते हुए जल का वेग रोकने के लिए खेतों की मेंडबंदी करना, ऊंची भूमि पर पतली खेती तथा टेढ़ी-मेढ़ी खेती की पद्धति अपनाना आवश्यक है जिससे जल का बहना रुककर उपजाऊ मृदा वहीं पड़ी रहे।

12. सामान्य ढालू क्षेत्रों में जहां जल द्वारा कटकर मृदा बह रही है वहां खेतों के छोर पर खाई खोदना उचित होगा।

13. शुष्क तथा अद्र्धशुष्क क्षेत्रों में ऐसी खादों का प्रयोग किया जाए जिनसे भूमि में जल ग्रहण शक्ति बढ़ती है तथा मृदा चिपचिपी हो जाती है।

14. बोई गई भूमि तथा बिना बोई गई भूमि को बारी–बारी से उपयोग में लाया जाए जिससे कि बोए गए खेतों की ढीली, भुरभरी मृदा जो कि वायु द्वारा उड़ाई जा रही है, दूसरे खेत में एकत्रित हो जाए और मृदा का नष्ट होना रुक जाए।

15. मरुस्थलीय क्षेत्रों में मृदा को उड़ने से रोकने के लिए 2 मीटर ऊंची लोहे की चादरें वायु चलने की दिशा में लगा दी जाए जिससे उड़ती हुई मृदा रुक जाए। इन बालूकास्तूपों में वनस्पतियां व घासें लगाई जाएं। इस प्रकार के प्रयास राजस्थान में किए गए हैं जिनमें पूर्ण सफलता मिली है।

16. मरुस्थलीय तथा अर्द्ध मरुस्थलीय क्षेत्रों में मरुस्थलों के विस्तार को रोकने के लिए रक्षात्मक वृक्षों की पट्टियां विकसित की जाए व लगाई जाएं।

17. मैदानी क्षेत्रों की कृषि भूमि में फसलों के चक्र में परिवर्तन लाया

जाए क्योंकि निरंतर व अधिकाधिक फसलों के उत्पादन से मृदा की उर्वराशक्ति समाप्त हो रही है साथ ही मृदा के कण अलग अलग होकर हवा व पानी के साथ बह रहे हैं।

18. कृषि भूमि को जोतने के बाद उसे वनस्पति से ढककर तेज बूंदों के आघात से बचाया जाए।

19. भूमि में पड़ी वनस्पति को स्वतः सड़ने दिया जाए जिससे भूमि की जलग्रहण क्षमता में वृद्धि होकर मृदा का क्षरण रुक सके।

❑❑❑

अध्याय 3

मृदा अपरदन

मृदा अपरदन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा मृदा कण किसी बाहरी कारक, जैसे हवा या बहते हुए जल के द्वारा अपने मूल स्थान से अन्य स्थान को स्थानांतरित हो जाते हैं।

जल तथा वायु-जैसे साधनों के द्वारा मृदा सतह के अनावृत होने की क्रिया को मृदा अपरदन कहते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वायु, जल अथवा किसी अन्य प्राकृतिक साधन के कार्य–कलापों के कारण मृदा का पृथक होकर स्थानांतरित हो जाना मृदा अपरदन कहलाता है।

गणितीय ढंग से यह कहा जा सकता है कि भू–क्षरण क्षरणशीलता (Erosivity) और क्षरणीयता (Erodibility) की पारस्परिक क्रियाओं का फलन है, जिसे निम्नांकित समीकरण से अभिव्यक्ति किया जा सकता है:

$$E = f(E_s \times E_d)$$

जहां E = भू – अपरदन

E_s = क्षरणीयता

f = फलन (function)

के सूचक हैं।

क्षरणशीलता :

यह क्षरणकारी शक्तियों, जैसे, जल, वायु, गुरुत्वाकर्षण हिमनद आदि की यह कार्यक्षम योग्यता है जो भूमि का अपरदन है। क्षरणकारी शक्तियों की विशेषताएं विभिन्न प्रकार से क्षरणशीलता को प्रभावित करती हैं।

क्षरणीयता :

यह क्षरण के प्रति मिट्टी की प्रभाव्यता (Sunsceptibility) या भेद्यता) (vulnerability) है। यह निम्नांकित बातों पर निर्भर करती है:

1. मिट्टी के भौतिक एवं रासायनिक गुण तथा स्थलाकृति
2. भूमि के उपचार – (1) भूमि प्रबंध, जैसे संरक्षण की विभिन्न यांत्रिक कार्य प्रणालियां

   (2) भूमि प्रयोग, जैसे फसलोत्पादन, चरागाह वन आदि।

मृदा अपरदन की प्रक्रिया

भू–अपरदन की प्रक्रिया में सक्रिय रूप से भाग लेने वाले प्रमुख कारक जल, वायु गुरुत्वाकर्षण और हिमनद हैं।

जल, वर्षा की बूंदों के भूमि पृष्ठ पर संघात द्वारा तथा पृष्ठवाह, सरिता बहाव एवं तरंगों की क्रिया द्वारा मृदा का अपरदन करता है।

वायु की तरंगें भूमि पृष्ठ का अपघर्षण (abrasion) करती हैं और महीन कणों को अपनी तरंगों में दूर–दूर तक उड़ा जे जाती हैं। गुरुत्वाकर्षण बल के परिणामस्वरूप मिट्टी एवं शैलों का नीचे की ओर स्खलन होता है और वे इस प्रकार क्षीण होती रहती हैं।

हिमानी पर्वतीय क्षेत्रों में हिमनदों (glasciers) की पर्वतीय ढालों पर गति के कारण बड़े–बड़े शिलाखंड विचूर्णित हो जाते हैं।

मृदा अपरदन की यांत्रिकी

भू–अपरदन एक जटिल प्रक्रिया है जिसके दो चरण हैं–

1. मृदा कणों का विलगन (detachment)
2. विलबित कणों का परिवहन (transporation)

मिट्‌टी के कणों की विलगन एवं परिवहन प्रवृत्तियों को क्रमशः विलगनीयता (Detachability) तथा परिवहनीयता कहते हैं। बड़े कण अधिक आसानी से विलगित हो जाते हैं परंतु कठिनाई से परिवाहित होते हैं। इसके विपरीत मृत्तिका (clay) आदि के सूक्ष्मकण अपेक्षाकृत कम विलगनीय होते हैं, परंतु बड़े कणों की तुलना में अधिक आसानी से परिवहित हो जाते हैं।

विलगन एवं परिवहन की क्रियाओं में गतिज ऊर्जा प्रयुक्त होती है। जो दो स्रोतों से प्राप्त होती है–

1. वर्षा की बूंदों एवं वायु तरंगों की संघाती ऊर्जा (impact engery)

2. अपवाह (Run-off) तथा वायुतरंगों की बहाव ऊर्जा

मृदा अपरदन के प्रकार :

प्रक्रिया के आधार पर मृदा क्षरण के दो प्रकार हैं–

1. सामान्य या प्राकृतिक मृदा अपरदन :

भूपटल की चट्‌टानों में किन्हीं प्राकृतिक प्रक्रियाओं जैसे अपक्षय के कारण टूट कर बारीक चूर्ण या मिट्‌टी के रूप में बदलती रहती है। यह अत्यंत धीमी गति से होती है जिसके परिणामस्वरूप भूतल पर उपजाऊ मिट्‌टी की तह बनती रहती है।

2. त्वरित मृदा अपरदन

जब मृदा की ऊपरी परत प्राकृतिक या सुरक्षात्मक आवरण से रहित होती है तथा कुछ अन्य कारणों से क्षरण की गति तेज व विनाशकारी हो जाती है तो इसे त्वरित मृदा अपरदन कहते हैं।

इस प्रक्रिया में प्रकृति द्वारा निर्मित नई मृदा इस क्षति को पूरा नहीं कर पाती है। इस प्रकार का अपरदन हानिकारक होता है। मृदा अपरदन की गति में तीव्रता बहुधा प्रकृति में मनुष्यों द्वारा किए जा रहे हस्तक्षेप के कारण होती है।

भौगोलिक कारकों के आधार पर मृदा अपरदन के प्रकार :

I. वायु अपरदन :

वायु द्वारा मृदा का अपरदन वनस्पतिविहीन व सूखे क्षेत्रों में अधिक होता है। तेज गति से चलने वाली आंधी अथवा तूफान ढेर सारी मृदा को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाती है। वायु के इस अपरदन को पृष्ठ अपरदन भी कहते हैं– वायु द्वारा मृदा के कण तीन प्रकार से ले जाए जाते हैं (1) हवा के छोटे–छोटे झटकों के साथ! (2) हवा में लटकते हुए। (3) भारी कण धरातल पर लुढ़कते हुए। जब कभी धूल भरी वायु का वेग कम हो जाता है तो मृदा के मोटे कण टीलों के रूप में इकट्ठे हो जाते हैं जिससे उपजाऊ भूमि ढक जाती है और कृषि के लिए अनुपयोगी हो जाती है।

वायु द्वारा मृदा अपरदन तीन कारकों पर निर्भर करता है– (1) हवा की गति (2) अवधि (3) भू–सतह की सुरक्षा या आवरण। वायु द्वारा अपरदन मरुस्थलीय क्षेत्रों, अर्द्ध मरुस्थलीय क्षेत्रों तथा समुद्र तटों पर प्रायः होता है। वायु द्वारा मृदा अपरदन से राजस्थान के मरुस्थल का तेजी से विस्तार हुआ है और हो रहा है। हमारे देश में राजस्थान, कच्छ की खाड़ी, हरियाणा, और पंजाब के मैदानी क्षेत्रों में वह एक गंभीर समस्या है।

II. हिमानी अपरदन :

हिमानी द्वारा मुख्यतया हिमाच्छादित क्षेत्रों में क्षरण होता है। हिमाच्छादित क्षेत्रों में हिमानियाँ उतना ही अपरदन कार्य करती हैं जितना कि नदियाँ। हिमानी, गुरुत्वाकर्षण द्वारा ढाल के अनुरूप

फिसलती है तथा आगे बढ़ते समय अपनी तली को पिसती रहती है जिससे अपने कार्य में विशाल परिवर्तन कर लेते हैं। जब तली की शिलाओं में सन्धियों का पूर्ण विकास होता है तो क्षरण कार्य में और भी अधिक तीव्रता आ जाती है। हमारे देश में हिमानी अपरदन को घटना मुख्यतया हिमालय के 4,000 मीटर से अधिक ऊँचाई वाले क्षेत्रों में देखने को मिलती है।

हिमानियों द्वारा क्षरण कार्य निम्न बातों पर निर्भर करता है–

1. हिमानियों की मोटाई।
2. हिमानियों द्वारा परिवाहित चट्टानी पदार्थ की मात्रा।
3. हिमानियों का वेग।
4. हिमानियों के तल की शैलों की बनावट।

III. जलीय अपरदन

जल द्वारा मृदा अपदरन सबसे अधिक हानिकारक है। यह अपरदन वर्षा के जल, नदी के जल तथा समुद्री जल से ही हो सकता है। जल द्वारा अपरदन कई कारकों से प्रभावित होता है। जैसे वर्षा का प्रकार, मृदा अपरदन का स्वरूप तथा भूमि का ढाल आदि। जिस प्रदेश में वनस्पतियां नष्ट हो गई हों वहां वर्षा के जल की तेज बूंदें भूमि से तेजी से टकराकर उसकी ऊपरी मृदा को घोल करके पतला कीचड़ बना देती हैं। यही पतला कीचड़ ढाल के अनुरूप बढ़ते हुए पानी के साथ बहने लगता है। इससे भूमि के छिद्र भर जाते हैं और बंद हो जाते हैं। इससे और अधिक अतिरिक्त पानी सतह पर एकत्रित होने लगता है और तेजी से नीचे की ओर बहने लगता है। यही तेजी से बहता हुआ पानी मृदा अपरदन का कारण बनता है और मृदा कणों, ह्यूमस तथा खनिज लवणों को अपने साथ बहाकर ले जाता है। मृदा का जलीय अपरदन निम्नलिखित प्रकार से हो सकता है।

1. **पृष्ठ अपरदन** (Sheet erosion)

यह अपरदन की सबसे पहली अवस्था है। इससे भू–पटल के विशाल क्षेत्र की मृदा की परत कट कर बह जाती है। मृदा की उर्वरता तथा स्थायित्व में मंदगति से विनाश होता है। वनस्पतिविहीन हल्के ढालू क्षेत्रों में इस प्रकार का अपरदन अधिक होता है। राष्ट्रीय योजना के आयोग के अनुसार "इस प्रकार का अपरदन वनों को अत्यधिक काटने, अत्यधिक पशुचारण और स्थानांतरण कृषि द्वारा होता है।

2. अल्पसरिता अपरदन (rill erosion)

जब पृष्ठ अपरदन की उपेक्षा कर दी जाती है और इसे पूर्व स्थिति में चलने दिया जाता है तो बालूयुक्त जल पतली नालियों में बहना शुरू कर देता है। इस प्रकार संकरी नालियों का बनना अल्पसरिता अपरदन कहलाता है। जहां भूमि की ढाल 4 से 5 प्रतिशत से अधिक होता है, वहां यह अपरदन अधिक होता है।

3. अवनालिका अपरदन (gully erosion)

अवनालिका ढालू भूमि में लंबी, गहरी तथा कम चौड़ी नालियों को कहते हैं। जब वर्षा एवं बाढ़ का जल तीव्र गीत से ढालू भूमि में प्रवाहित होता है तो भूमि में छोटी छोटी नालियाँ तथा गड्ढे बन जाते हैं। इन नालियों तथा गड्ढों से होकर बहते हुए पानी के साथ गाद, कार्बानिक पदार्थ और खनिज पोषक तत्व बह जाते हैं। यह भूमि अपरदन का सबसे अधिक खतरनाक रूप है। इस प्रकार के अपरदन से किसी भी भू–क्षेत्र का बहुत बड़ा भाग नष्ट हो जाता है जिससे वह कृषि के लिए अनुयुक्त हो जाता है।

आग की भांति यह अपरदन बहुत तेजी से फैलता है और व्यापक विनाश करता है। कभी कभी एक ही रात में 12 फुट से अधिक गहरी अवनालिकाएं बनती देखी गई हैं। ये अवनालिकाएं अंग्रेजी के वी (V) अथवा यू (U) आकार की बनती हैं।

4. नदी तटीय अपरदन (river bank erosion)

वर्षा ऋतु में अथवा आकस्मिक बाढ़ के समय नदियों में पानी

अत्यधिक तीव्र गति से बहता है जिससे नदियों के किनारे काफी अधिक कट जाते हैं। तेज गति से बहने वाला पानी नदी के तल को भी काट लेता है। जहां कहीं मोड़ होता है वहां जल प्रवाह में एकाएक वक्रगति आ जाती है जिससे नदी के तट अंदर की ओर धंस जाते हैं। जब पानी का वेग कम हो जाता है तो इस प्रकार से अपरदित मृदा नदी के सामने इकट्ठी हो जाती है। इसके फलस्वरूप नदियाँ प्राय अपनी दिशा बदल देती है। नदियों द्वारा मार्ग बदलने से "खार" बन जाते हैं।

5. भू–स्खलन अपरदन (landslide erosion)

यह अपरदन का सर्वाधिक भयानक रूप है। पर्वतीय क्षेत्रों में वर्षा ऋतु में मृदा गहराई तक पहुंचने वाली नमी के दबाव के कारण किसी भ्रंश रेखा के सहारे बड़े–बड़े भूखंड अथवा खड़ी ढाल वाली भूमि में छोटा भाग खिसक कर सीधे गिर जाता है। इस प्रकार के भू–स्खलन क्षरण से पर्वतीय क्षेत्रों में कृषि भूमि तथा वन भूमि का विनाश हो रहा है।

6. वर्षा की बूंदों द्वारा अपरदन (direct impact of rain drops)

तेजी से गिरने वाली वर्षा की बूंदें वृक्ष विहीन क्षेत्रों में मृदा के कणों को अपना से स्थान हटा देती हैं। इसी के साथ–साथ मिट्टी के घुलनशील पोषक तत्व भी बहकर चले जाते हैं। ऊष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में वर्षा की बौछारें बड़ी तीव्रगति से पड़ती है जिससे क्षरण अधिक तीव्र हो जाता है। सामान्यरूप से शीतोष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों की तुलना में ऊष्ण एवं उपोष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों की वर्षा में क्षरण शक्ति 16 गुना अधिक मापी गई है।

वैज्ञानिकों के अनुसार पानी के बहाव से 10 प्रतिशत मृदा अपरदन होता है तथा शेष 90 प्रतिशत मृदा अपरदन वर्षा की बूंदों से होता है। सामान्यत 5 मिली आयतन वाली वर्षा की बूंद को वेग प्रति सेकेण्ड 9 मीटर की गति से होता है। एक वृक्ष विहीन स्थान पर यदि

तीव्र गति से वर्षा की बौछार पड़ती है तो वहां की मृदा उखड़कर दूर फैल जाती है और पानी में घुलकर बहाव के साथ बह जाती है। मूसलाधार वर्षा का पानी जब मृदा सहित नदी नालों में बहता है तो पानी के साथ गाद अधिक होने से वह बाढ़ का स्वरूप धारण कर लेती है।

मृदा अपरदन की दर को प्रभावित करने वाले कारक

किसी भी भौगोलिक क्षेत्र में किस सीमा मृदा अपरदन की दर कितनी होगी यह निम्नांकित कारकों पर निर्भर करता है :

1. मृदा के प्रकार, उसकी संरचना, गठन और कार्बनिक अंश
2. ढाल की प्रकृति और उसकी लंबाई
3. वर्षा की तीव्रता, अवधि और वितरण
4. मृदा व्यवस्था का प्रबंध
5. भूपटल का वानस्पतिक आवरण और उसका प्रकार
6. फसलों की व्यवस्था तथा भूमि उपयोग की विधियां
7. पशु चरागाहों का विस्तार व दबाव (अनियंत्रित पशुचारण)
8. जलाऊ लकड़ी हेतु वनों पर निर्भरता
9. पवन का वेग एवं अवधि
10. सड़कों का निर्माण एवं विकास

मृदा अपरदन

हमारे देश में कश्मीर से कन्याकुमारी तक तथा राजस्थान से लेकर असम तक संपूर्ण देश में मृदा अपरदन एक गंभीर समस्या है। यह समस्या न केवल वर्तमान समय की देन है अपितु हमेशा ही किसी न किसी कारण द्वारा देश के किसी न किसी क्षेत्र में मृदा क्षरण होता रहा है। हिमालय क्षेत्र के लाखों वर्ष तक बहते हुए जल द्वारा मृदा का

अपरदन होने से ही सतलज–गंगा के मैदान की उत्पत्ति हुई है। मृदा अपरदन का विनाशीकारी रूप उस समय प्रारंभ हुआ जब मनुष्यों ने पशुचारण युग तथा कृषि युग में प्रवेश किया। यद्यपि हिमालय क्षेत्र में आदिवासी जातियों द्वारा झूम कृषि एवं अन्य तरीकों से कृषि करने से मृदा अपरदन होता था किंतु मैदानों में मृदा अपरदन की समस्या आर्यों के आगमन के समय से प्रारंभ हुआ। ऐसा अनुमान है कि 2000 वर्ष पूर्व आर्य जातियां जो कि कृषि कार्य करते थे पंजाब में आईं। आर्यों ने ही सर्वप्रथम पंजाब के घने जंगलों को काटकर कृषि करना प्रारंभ किया। ईसा से लगभग 1500 वर्ष पूर्व आर्य लोग पूर्व दिशा की ओर बढ़ने लगे। जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती गई उसी अनुपात में वनों का काटना व पशुचारण भी बढ़ता गया।

अति प्राचीन काल की तुलना में वर्तमान समय में हमारे देश में मृदा अपरदन की समस्या ने अत्यंत विनाशकारी रूप धारण कर रखा है। यह मुख्यतया मानव समाज और इसके पर्यावरण के मध्य पारस्परिक असंतुलन का प्रतीक है। हमारे देश में लगभग 17 करोड़ 50 लाख हैक्टेयर भूमि अर्थात् कुल भौगोलिक क्षेत्रफल का 53 प्रतिशत गंभीर मृदा अपरदन के संकट से घिरा हुआ है।

दक्षिण के काली मृदा वाले क्षेत्रों में प्रति वर्ष प्रति हैक्टेयर 40 से 100 टन मृदा की उपजाऊ सतह मृदा अपरदन के कारण नष्ट हो रही है। अत्यधिक चराई के दबाव के कारण शिवालिक की पहाड़ियों में 6 सेमी. ऊपरी मिट्टी की परत एक ही वर्ष में गायब हो रही है। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, पंजाब, हरियाणा, बिहार, बंगाल, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, जम्मू कश्मीर आदि राज्यों के विस्तृत क्षेत्रों में विभिन्न कारकों, प्राकृतिक संसाधनों के अवैज्ञानिक उपयोग व अन्य मानवीय हस्तक्षेप के कारण मृदा अपरदन हो रहा है। इटावा जिले में लगभग 48 हजार हैक्टेयर बंजर भूमि है जहां जल–धाराओं द्वारा 11 घनफुट प्रति सेकेंड की दर से मृदा का अपरदन हो रहा है। मध्य प्रदेश में चंबल तथा उसकी सहायक नदियों ने मृदा क्षरण के कारण हजारों

वर्ग कि.मी. क्षेत्र को खादर में बदल दिया है। इसी क्षेत्र में लगभग 15 लाख एकड़ भूमि पर जलधाराओं ने अत्यंत गहरे गड्ढों का निर्माण कर दिया है। भिंड, मुरैना तथा ग्वालियर जिलों में इस प्रकार की 6 लाख एकड़ भूमि का विस्तार मिलता है। यहां 1.25 लाख एकड़ क्षेत्र में मृदा क्षरण के कारण 15 से 20 फुटे गहरे गड्ढे बन गए हैं।

हिमालय क्षेत्र से निकलने वाली नदियों से भी प्रति वर्ष अत्यधिक मात्रा में मृदा क्षरण हो रहा है। एक अनुमान के अनुसार हिमालय क्षेत्र से निकलने वाली छोटी–बड़ी नदियों द्वारा प्रतिवर्ष लगभग 6 अरब टन उपजाऊ ऊपरी मृदा कटकर मैदानों एवं डेल्टाओं में जमा हो रही है।

एक अनुमान के अनुसार नेपाल हिमालय से निकलने वाले गण्डक और सरयू प्रणाल की नदियां प्रतिवर्ष 10 लाख घन फुट मृदा प्रतिवर्ष जल के साथ बहाकर उत्तर प्रदेश के मैदानी क्षेत्रों में जमा करती हैं जिससे नदियों का पाट भरता जा रहा है।"

वायु द्वारा मृदा अपरदन मुख्यतया राजस्थान के जोधपुर, बीकानेर कोटा, जयपुर, भरतपुर तथा किशनगढ़ जिलों तथा गुजरात, महाराष्ट्र एवं मध्य प्रदेश के आंशिक क्षेत्रों में हो रहा है। राजस्थान में वायु द्वारा मृदा अपरदन से इस शताब्दी में प्रति वर्ग मील लगभग 3 करोड़ उपजाऊ मृदा का अपरदन हुआ है। इन क्षेत्रों में बढ़ती हुई शुष्कता के फलस्वरूप वायु का वेग वृक्षों, झाड़ियों तथा घास के आवरण को नष्ट करता हुआ सारी भूमि को मरुस्थल बना रहा है।

मृदा अपरदन को प्रभावित करने वाले कारकः

मृदा अपरदन के लिए उत्तरदायी प्रमुख प्राकृतिक एवं मानवीय कारक इस प्रकार हैं–

1. भूस्खलन पर मृदा अपरदन

भू–स्खलन द्वारा मृदा अपरदन पर्वतीय क्षेत्रों में मुख्यतया हिमालय के पर्वतीय क्षेत्रों में हो रहा है। उत्तरकाशी जनपद में गंगोत्री सड़क मार्ग पर शहर के आस–पास तथा भटवाड़ी तक 40 कि.मी. तक के

क्षेत्र में भू–स्खलन की गंभीर समस्या है।

भू–स्खलन की तीव्रता, भू–स्खलन का घनत्व, ढाल का अंश, कृषि भूमि एवं वन भूमि के रिक्तीकरण के आधार पर अलकनन्दा घाटी को निम्न भू–स्खलन तीव्रता कटिबंधों में विभाजित किया जा सकता है। (I) विष्णु नंदप्रयाग–गढ़वाल उच्च तीव्रता कटिबन्ध। (II) माना–विष्णु मलारी मध्य क्रिस्टलाइन मध्यम तीव्रता कटिबंध। (III) देवप्रयाग–कर्ण–प्रयाग–नन्दप्रयाग–दूधातोली निम्न तीव्रता कीटबन्ध।

भू–गर्भशास्त्री डॉ. वाल्दिया के अनुसार : हिमालय के मध्यवर्ती प्रदेशों में कमजोर चट्टानों की एक बड़ी पट्टी है। पिछले दशक में अधिकांश भू–स्खलन इसी पर्वतीय खंड में आते रहे।"

भूस्खलन द्वारा न केवल गांवों का विनाश हो रहा है अपितु वन क्षेत्रों की भी बड़े पैमाने पर तबाही हो रही है।

2. वर्षा द्वारा मृदा अपरदन

हमारे देश की स्थिति ऊष्ण एवं उपोष्ण कटिबंध के अंतर्गत है। हमारे देश में मानसूनी बर्षा बौछारों के रूप में होती है। तेजी से गिरने वाली वर्षा की बूंदें जब वृक्ष विहीन स्थानों पर गिरती हैं तो उस स्थान की मृदा उखड़कर हट जाती है। वर्षा ऋतु में वर्षा के बहते हुए जल द्वारा हिमालय क्षेत्र से करोड़ों टन उपजाऊ मृदा गंगा-यमुना तथा सिंध–सतलज के मैदान में जमा हो रही है। वर्षा के जल द्वारा इस तरह भूमि कटाव इतना शीघ्र होता है कि 100 वर्षों में होने वाला भूमि कटाव एक ही दिन में संपन्न हो सकता है। मृदा अपरदन की पहली अवस्था में वन विहीन क्षेत्रों में वर्षा की बूंदों के आयतन एवं भार द्वारा मृदा का घोल निर्मित होता है तथा दूसरी अवस्था में ढाल के कारण मृदा के घोल को कंकड़–पत्थर तथा बहता हुआ जल आगे ले जाता है। मृदा अपरदन की इस प्रक्रिया में मूसलाधार ओलों की वर्षा से भी अधिक बढ़ावा मिल रहा है क्योंकि ओलों के आयतन एवं भार द्वारा मृदा की ऊपरी सतह वर्षा की बूंदों की अपेक्षा अधिक तेजी से टूटती है। वर्षा द्वारा मृदा क्षरण मुख्यतया वनाच्छादन भूमि पर भी निर्भर

करता है। छितरे हुए वन भागों की अपेक्षा वन विहीन क्षेत्रों में मृदा अपरदन अधिक होता है। पश्चिम हिमालय की ऊपरी सतह के एक बहुत बड़े क्षेत्र में छोटे–छोटे नदी नालों इत्यादि के विस्तार तथा कुछ क्षेत्रों में गूलों द्वारा भी ढालू क्षेत्रों से मृदा का अपरदन हो रहा है।

3. हिमानियों द्वारा मृदा अपरदन

भारत में हिमानियों द्वारा मृदा अपरदन का कार्य केवल हिमालय के हिमाच्छादित क्षेत्रों में अर्थात 4,000 मीटर से अधिक ऊंचाई वाले भागों में हो रहा है। वैज्ञानिकों के अनुसार हिमालय क्षेत्र में वनों के कटने तथा तापमान बढ़ने से हिम क्षेत्रों में हिम का पिघलना शुरू हो रहा है। इस पिघलते हुए हिमनद के साथ हिमाच्छिादित क्षेत्रों से बड़े–बड़े पत्थर, कंकड़ तथा मिट्टी बहकर आ रही है जिससे कृषि भूमि का विनाश हो रहा है। हिमालय क्षेत्र में ऊंचे पर्वतीय ढाल होने के कारण हिम के छोटे–बड़े टुकड़े नदियों के रूप में फिसलते रहते हैं। दक्षिण की ओर हिमालय के ढलान अधिक होने से ये हिमनद 2300 मीटर की ऊंचाई तक फिसल आते हैं किंतु कहीं कहीं हिमानियों द्वारा लाया गया मलवा 1800 मीटर की ऊंचाई तक भी पाया जाता है। हिमालय प्रदेश में कहीं–कहीं 1500 मीटर की ऊंचाई तक हिमानियों का मलवा पाया गया।

4. सड़क निर्माण से मृदा अपरदन

हमारे देश में ज्यों–ज्यों सड़कों का द्रुतगति से निर्माण किया जा रहा है त्यों–त्यों सड़कों के समीपवर्ती क्षेत्रों में मृदा अपरदन की समस्या बढ़ रही है। सड़क निर्माण द्वारा मृदा क्षरण सबसे अधिक पर्वतीय क्षेत्रों में हो रहा है। एक किमी. लंबी सड़क बनाने पर 10 लाख टन मलवा निकलता है। पर्वतीय क्षेत्रों की सड़क पहाड़ों को चीरती हुई निकलती है जिससे सड़क के ऊपरी भागों की मृदा भी टूटकर नीचे गिरती है। सड़क की खुदाई से निकली मृदा सड़क के नीचे गिरती, लुढ़कती हुई तथा धरती को खुरचती हुई जब वर्षा के

पानी के साथ बहती है तो कृषि भूमि की तबाही कर देती है, साथ ही नदी नालों को भी भर देती है। पर्वतीय क्षेत्रों में ज्यों–ज्यों सड़कों का विकास हो रहा है त्यों–त्यों सड़कों के दोनों ओर अपरदन की समस्या बढ़ रही है।

5. वन विनाश द्वारा मृदा अपरदन

यद्यपि प्राकृतिक वनस्पति का उपयोग करना मानव की एक अनिवार्य आवश्यकता है किंतु इनके अनुचित उत्पादन की विधियों तथा इनके अविवेकपूर्ण दोहन के कारण मृदा क्षरण की समस्या विकराल हो गई है। मनुष्यों ने वनों का विनाश बड़े पैमाने पर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जिससे भूमि वनस्पति विहीन हो गई। वनस्पति विहीन भूमि में पशुचारण के समय पशुओं के खुरों से मृदा खुरचकर वर्षा के जल के साथ बह जाती है और भूमि तथा चट्टानें नंगी हो जाती हैं। वनस्पति विहीन भूमि वर्षा और पानी का प्रभाव सहन नंही कर सकती है। राजस्थान का विशाल भू–भाग जो पहले सघन वनों से ढका था, वन विनाश तथा अधिक पशुचारण के कारण ही मरुस्थल में परिवर्तित हुआ। हिमालय क्षेत्र में वन विनाश का मृदा अपरदन पर अधिक विनाशकारी प्रभाव पड़ा है। वृक्षों की जड़ें जिस मृदा को बांधे या जकड़े रखती थीं, वन विनाश के फलस्वरूप वर्षा के जल के साथ कट गई हैं। पेड़ों की टहनियों तथा स्लीपरों के लुढ़कने से भी ऊपरी सतह की मिट्टी टूटती है। वन विनाश द्वारा मिट्टी अपरदनित होने से न केवल नदियों के जलाशय गाद से भर रह हैं अपितु नदियों की सतह भी मलवे से ऊंची उठ रही है। वन विनाश के कारण हिमालय के आंतरिक क्षेत्रों में स्थित प्राकृतिक झीलों तथा जलाशयों में भी गाद की मात्रा व दर बढ़ रही है। गढ़वाल हिमालय की भागीरथी नदी में गाद की दर 15% से भी अधिक मापी गई है जबकि अलकनंदा नदी में 10.3% मापी गई है। इसके अतिरिक्त कुछ क्षेत्रों में जल विद्युत उत्पादन हेतु बनाए गए बांधों में गाद की

वास्तविक दर अनुमानित दर से 20% से अधिक मापी गई है। रामगंगा नदी पर बनाए गए बांध जलाशय की आयु भी अधिक गाद (Silt) की वृद्धि के कारण 100 वर्ष से घटकर 40 वर्ष होने के अनुमान लगाया गया है।

6. कृषि विकास द्वारा मृदा अपरदन

मनुष्य के लिए कृषि सर्वाधिक आवश्यक है। वर्तमान समय में विश्व की आधी से अधिक जनसंख्या कृषि कार्य में लगी है तथा यही उनकी आजीविका का साधन है। जैसे–जैसे विश्व की आबादी बढ़ती गई, त्यों–त्यों कृषि भूमि के विस्तार के लिए वनों को काटा गया जिससे मृदा अपरदन में और अधिक वृद्धि हुई। अविकसित तथा विकासशील देशों में यह समस्या अधिक गंभीर है।

हमारे देश में प्राचीन काल से लेकर आज तक कृषि के लिए वनों को काटा गया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद हमारे देश की कुल आबादी में अधिक वृद्धि हुई, साथ ही कृषि पर आधारित लघु उद्योग धंधों व बड़े–बड़े उद्योग धंधों का विकास हुआ। कृषि द्वारा अधिक भोजन उत्पादन के कारण देश में अनेक सामाजिक, आर्थिक तथा पर्यावरणीय समस्याएं उत्पन्न हुईं। कृषि के औद्योगिकरण के कारण कृषि थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में रह गई है जिससे अमीर गरीब का भेदभाव बढ़ा है साथ ही बेरोजगारी भी बढ़ी है। बेरोजगारी, गरीब किसानों तथा वनों में निवास करने वाले कबीलों द्वारा जंगलों को काटकर खेती की गई। सरकारी नीतियों द्वारा भी समय समय पर वनों को काटकर खेती करने की छूट दी गई है। भारतीय वन कानून 1927 के अनुसार भी अंग्रेजों ने आरक्षित वनों के अंदर कुछ सीमित मात्रा में वन गांव बसाने की छूट दी थी जिनमें वन श्रमिकों को रखा जा सके। ऐसे प्रत्येक परिवार को 8 हेक्टेयर वन साफ करके खेती करने तथा 5 पशु रखने की छूट थी। इस सुविधा द्वारा 8 हेक्टेयर की छूट का छोर पकड़ वनों का सफाया होने लगा। कछार जिले से सिलचर संभाग में आज इस तरह के 116 गांव हैं। वन संरक्षण

अधिनियम 1980 की अधिसूचना के अनुसार अब इस तरह की छूट समाप्त की गई है। उत्तर पूर्वी हिमालय व असम के पर्वतीय वन क्षेत्रों में झूम कृषि व्यवस्था से भी मृदा अपरदन हो रहा है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात जब देश की जनसंख्या में और अधिक वृद्धि हुई तो कृषि भूमि के विस्तार के लिए वनों को काटा गया। कृषि प्रसार की इस प्रवृत्ति ने पर्वतीय क्षेत्रों में मृदा अपरदन को सर्वाधिक बढ़ावा दिया है। पर्वतीय क्षेत्रों में नदी घाटियों से ऊपर पर्वत चोटियों की दिशा में पर्वतारोहण की तरह ढालों के समानांतर सीढ़ीदार खेतों के रूप में कृषि भूमि का विकास हुआ। संपूर्ण देश के पहाड़ी ढालों में गलत तरीके से की जाने वाले कृषि से मृदा अपरदन बढ़ता जा रहा है।

कृषि उत्पादन की विधियों से भी मृदा अपरदन हो रहा है। जिन क्षेत्रों में फसल काटने के बाद कृषि भूमि को परती छोड़ दिया जाता है वहां मृदा क्षरण प्रारंभ हो जाता है। फसलों का अधिक उत्पादन भी मृदा की ऊपरी परत से अधिक पोषक तत्वों को समाप्त करता है। ऐसी कृषि भूमि में फसलें कम पैदा होती हैं जिससे बहते हुए पानी तथा हवाओं के साथ मृदा बह जाती है।

7. अनियन्त्रित चराई द्वारा मृदा अपरदन

हमारे देश में चरागाहों का विस्तार बहुत अधिक नहीं है किंतु विश्व की सबसे अधिक पशु संख्या भारत में है। हमारे देश में पशुओं को घास उपलब्ध कराने के साथ–साथ घास के मैदानों का भी संरक्षण आवश्यक है। देश की जनसंख्या में वृद्धि के साथ–साथ पशु संख्या में भी वृद्धि हो रही है जिससे प्रति पशु तथा घास के मैदान का अनुपात घट रहा है। भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, नई दिल्ली द्वारा किए गए एक शोध सर्वेक्षण के अनुसार एक गाय को लगभग 1.20 हेक्टेयर चरागाह क्षेत्र की आवश्यकता होती है किंतु पर्वतीय क्षेत्रों तथा रेगिस्तानी क्षेत्रों में घास की कम वृद्धि तथा अनुर्वरक क्षेत्रों आदि को ध्यान में रखते हुए यह माना जा सकता है कि प्रति गाय को

लगभग 2.42 हेक्टेयर चरागाह क्षेत्र की आवश्यकता होगी किंतु वास्तविक आनुपातिक स्थिति इसके विपरीत है।

घास के पौधों की कार्यिकी इस तरह की होती है कि यदि उनके तनों और पत्तियों का बार–बार तोड़ा जाय तो उसकी वृद्धि बहुत ही कम हो जाती है। प्रथम पशुचरान में घासों की जड़ों में एकत्रित ऊर्जा घास पौधों के पुनरुत्थान में काम आती है। परंतु जब चराई अत्यधिक हो जाती है तो पुनरुथान क्षमता अत्यधिक निर्बल पड़ जाती है। यदि चराई निरन्तर चलती रहती है तो अन्ततः घास की जड़ें मर जाती है। इस क्रिया के निरंतर होने से चराई क्षेत्र एक दिन घास रहित, मृदा तथा वीरान हो जाता है।

मृदा अपरदन के परिणाम

विभिन्न कारणों से होने वाले मृदा अपरदन द्वारा निम्नांकित परिणाम देखे जा रहे हैं :

1. मृदा की स्थिरता तथा उर्वरता में कमी आ रही है।
2. रेतीले प्रदेशों का तेजी से विस्तार हो रहा है।
3. तालाबों, झीलों तथा बांध जलाशयों में गाद भरने से इनकी अनुमानित आयु घट रही है जिससे सिंचाई एवं जल विद्युत उत्पादन पर प्रभाव पड़ रहा है।
4. नदियों में गाद (silt) अधिक आने से बाढ़ों की संख्या तथा तीव्रता में वृद्धि हो रही है। साथ ही नदियों की सतह में बालू का अधिक जमाव होने से नदियों की धाराओं में परिवर्तन हो रहा है।
5. मृदा के अपरदन से वनस्पति का आवरण कम होता जा रहा है जिससे इमारती व जलाऊ लकड़ी की कमी हो रही है।
6. चरागाह क्षेत्रों की कमी हो रही है जिससे पशुओं की गुणवत्ता में भी गिरावट हो रही है।

7. तापमान, वर्षा व आर्द्रता की दर व औसत में परिवर्तन हो रहा है।

8. हिमालय की तलहटी में स्थित क्षेत्रों तथा सिंधु–गंगा–ब्रह्मपुत्र के मैदानों की कृषि भूमि की गुणवत्ता पर प्रभाव पड़ा रहा है।

9. भूस्खलन के परिणामस्वरूप होने वाले मिट्टी अपरदन से सड़कों का विनाश हो रहा है।

10. मृदा अपरदन द्वारा प्राकृतिक वनस्पति का मूल समाप्त हो रहा है जिससे वन्य जीव–जंतु व कीड़े–मकोड़ों का ह्रास हो रहा है।

मृदा अपरदन के कारण देश निर्वासित हो जाते हैं। लोगों के स्वास्थ्य एवं समृद्धि का विनाश होने लगता है तथा कृषक बेकार घूमने लगते हैं। यह परिणाम एक वर्ष या कुछ वर्षों में उत्पन्न नहीं होता है वरन् इनके संपन्न होने में शताब्दियां लग जाती हैं। इसीलिए मृदा के कटाव को धीरे–धीरे होने वाली मृत्यु भी कहा जाता है।

मृदा की उर्वरता एवं उत्पादकता पर मृदा अपरदन का प्रभाव

प्रायः लोग मृदा–उर्वरता और मृदा उत्पादकता को पर्यायवाची समझते हैं परंतु वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मृदा उर्वरता और मृदा उत्पादकता दोनों अलग–अलग शब्द हैं। मृदा उर्वरता से हमारा अभिप्राय मिट्टी की उस क्षमता से है जो पौधों के लिए आवश्यक सभी पोषक तत्वों को उपलब्ध रूप से और संतुलित मात्रा में पौधों को सुलभ करा सके और मिट्टी किसी विषैले या हानिकारक पदार्थों के प्रभाव से सर्वथा मुक्त हो, किन्तु मृदा उत्पादकता का तात्पर्य उनकी फसलोत्पादन क्षमता से है।

यद्यपि मृदा उर्वरता और मृदा उत्पादकता परस्पर संबंधित हैं। फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि मृदा विशेष की उर्वरता अधिक होने पर उसकी उत्पादकता भी अधिक हो, उदारणार्थ, लवणीय तथा क्षारीय मिट्टियों की उर्वरता समान होते हुए भी उनकी उत्पादकता बहुत कम होती है क्योंकि इन मिट्टियों में लवणों और क्षारों का बाहुल्य होता है जिनका पौधों की वृद्धि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

सोडियम की अधिकता में पोटेशियम, कैल्शियम, मैग्नीशियम आदि पोषक तत्व उचित संतुलन में नहीं रह पाते। इसी प्रकार कुछ क्षेत्रों के मृदा अधिक उर्वर होने के बावजूद जल प्लावन की समस्या के कारण अपेक्षित उत्पादन देने में असमर्थ होती हैं।

जहां एक ओर अधिक उर्वरता वाली मृदाओं की भी उत्पादकता कुछ कारकों के प्रतिकूल प्रभाव के कारण कम हो जाती है वहीं दूसरी ओर कम उर्वरता वाली मृदाओं से उन्नत मृदा एवं सस्य प्रबन्ध द्वारा अधिक उत्पादन भी प्राप्त किया जा सकता है, उदाहरणार्थ, हल्के गठन वाली बलुई मृदाओं में पोषक तत्वों के संतुलित प्रयोग और सिंचाई जल की समुचित व्यवस्था द्वारा फसलोत्पादन में पर्याप्त वृद्धि संभव है। .

इस प्रकार मृदा उर्वरता से हमें मिट्टी में पौधों के लिए पोषक –तत्वों की उपलब्धि का बोध होता है जो सामान्यतया इनके भौतिक, रासायनिक एवं जैविक गुणों द्वारा प्रभावित होती है। जबकि मृदा उत्पादकता फसलोत्पादन को प्रभावित करने वाले अनेक मृदा संबंधी तथा बाह्य कारकों के प्रभाव का सामूहिक प्रतिफल होती है।

जनसंख्या में हो रही निरंतर वृद्धि के परिणामस्वरूप कृषि जोत का आकार (यानी प्रति व्यक्ति भूमि उपलब्धता) छोटा होना स्वाभाविक है। बढ़ती जनसंख्या के भरण–पोषण के लिए प्रति इकाई क्षेत्र से अधिकतम उत्पादन प्राप्त करना अनिवार्य हो जाता है। भविष्य में कृषियोग्य भूमि का क्षेत्रफल बढ़ाना संभव नहीं हैं। सघन कृषि प्रणाली पड़ा है। अतः टिकाऊ खेती के लिए मृदाक्षरण के नियंत्रण संबंधी उपायों द्वारा मृदा उर्वरता अनुरक्षण पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

□□□

अध्याय 4

जल द्वारा मृदा अपरदन

परिचय

जल द्वारा मृदा का अपरदन सबसे अधिक हानिकारक है, यह अपरदन वर्षा जल, नदी के जल तथा समुद्री जल से हो सकता है। वर्षा की बूंदों के आापात द्वारा मृदा कणों का पृथक्करण हो जाता है। जल का प्रवाह इस प्रकार पृथक हुए मृदा कणों को अपने साथ बहा ले जाता है। इस प्रकार उपजाऊ मृदा की ऊपरी परत नष्ट हो जाती है। जब मृदा की सतह पर कोई भी संरक्षी आवरण नहीं होता, तब मृदा की क्षति की गति बहुत तीव्र हो जाती है। प्राकृतिक वनस्पति को हटाकर जब मनुष्य भूमि को कृषि के काम में लाता है, तब मिट्टी की क्षति की आंशका और गति अत्यधिक बढ़ जाती है।

वर्षा जल को तेज बूँद भूमि की सतह से तेजी से टकराकर उसी ऊपरी मृदा को घोल कर पतला कीचड़ बना देती हैं। यही पतला कीचड़ ढाल के अनुरुप बढ़ते हुए शनी के साथ बहने लगता है। इससे मृदा के छिद्र बन्द हो जाते हैं जिसके परिणामस्वरू अतिरिक्त पानी मृदा सतह पर एकत्रित होने लगता है और तेजी से नीचे की ओर बहने लगता है। यही तेजी से बहता हुआ पानी मृदा

अपरदन का कारण बनता है और मृदा कणों, ह्यूमस तथा खनिज लवणों को अपने साथ बहा ले जाता है।

जल द्वारा मृदा अपरदन की प्रवृत्ति प्रक्रिया

जल अपरदन/क्षरण के अन्तर्गत वर्षा बूदों द्वारा मृदा पृष्ठ पर संघात एवं बहते हुए अपवाह जल, जिसमें गलते हुए हिमखंडों से उत्पन्न अपवाह भी संमिलित हैं, मुख्य रूप से मृदा अपरदन के लिए उत्तरदायी हैं।

गतिशील जल अपने साथ मिट्टी के कणों को ले लेते हैं और उन्हें निलंबित अवस्था में रखकर बहुत दूर ले जाते हैं। वर्षा की बूंदों के मृदा पृष्ठ पर संघात के कारण मृदा के कण टूटकर ऊपर की ओर उछलते हैं। इस किया को अपस्फुरण कहते हैं। ये टूटे हुए कण अपवाह जल के साथ परिवाहित हो जाते हैं। जब बरसती हुई बूंदें किसी जल पृष्ठ पर संघात करती हैं तो जल के वेग में विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप बहुत बड़ी मात्रा में मिट्टी के कण वायु में अपस्फुरित होते हैं। प्रयोगों द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि अपस्फुरित द्वारा हुई मृदा हानि अपवाह के बहाव द्वारा हुई मृदा हानि की तुलना में 50 से 90 गुना अधिक होती है। खाली भूमियों से तो भारी वर्षा द्वारा एक हेक्टेयर में 250 टन तक मृदा वायु में अपस्फुरित कर दी जाती है।

जब संपूर्ण क्षेत्र से मृदा प्रायः एक सी और पतली परतों में घुल जाती हैं, तो यह पृष्ठ अपरदन होता है। जब तक कि यह काफी अधिक न बढ़ जाए, तब तक उसका किसान को पता ही नहीं चला पाता। जब पृष्ठ अपरदन की उपेक्षा कर दी जाती हे और इसे पूर्व स्थिति में चलने दिया जाता है, तो सिल्ट युक्त जल संपूर्ण क्षेत्र में अंगुलियों की तरह फैली हुई सुगठित छोटी–छोटी नालियों में बहना शुरू कर देता है। इस प्रकार की पतली–सी नालियों का बनना अल्प सरित–अपरदन कहलाता है। जब अल्पसरित अपरदन की उपेक्षा कर

दी जाती है, तो अनेक पतली नालियां विस्तृत और गहरी नालियों के रूप में विकसित हो जाती हैं, और उनमें बहने वाला सिल्ट–युक्त जल अत्यधिक विशाल खाई में पहुंच जाता है। यह खाई धीरे-धीरे अत्यधिक गहरी और व्यापक नाली के रूप में विकसित हो जाती है, जिसे अवनालिका कहते हैं। यह अपरदन का सबसे अधिक खतरनाक रूप है। इससे भू–क्षेत्र का एक बहुत बड़ा भाग नष्ट हो जाता है तथा अनेक छोटे–छोटे टुकड़ों में विभक्त हो जाता है और आर्द्रता को तेजी से समाप्त कर देता है। कभी-कभी अवनालिका अपरदन के कारण संपूर्ण भू–क्षेत्र ही नष्ट हो जाता है और कृषि कार्य के लिए अनुपयुक्त हो जाता है।

जलीय अपरदन के रूप/प्रकार

जलीय अपरदन कई रूपों में होता है, जिनका विवरण इस प्रकार है–

1. वर्षा–बूंद अपरदन (Erosion due to impact of raindrops)

वर्षा की बूंदों के भूमि पृष्ठ पर संघात के कारण मिट्टी के कण टूटकर ऊपर की ओर उछलते हैं। इस क्रिया को अपस्फुरण कहते हें। ये टूटे हुए कण अपवाह जल के साथ परिवाहित हो जाते हैं। जब बरसती हुई बूंदें किसी जल पृष्ठ पर संघात करती हैं तो जल के वेग में विक्षोभ (Turbulence) उत्पन्न हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप अपवाह जल की अवसाद वाहन क्षमता बढ़ जाती है।

2. पृष्ठवाह अपरदन (Sheet erosion)

ढालू भूमियों की ऊपरी पृष्ठ से एक समान पतली सतह के रूप में मिट्टी का अपवाह जल के वेग में बह जाना पृष्ठवाह अपरदन कहलाता है। इसके द्वारा भूमि को अधिक हानि होती है। परंतु यह अपरदन इतनी धीमी गति से होता है कि इसका भली-भांति पता चलने के समय तक बहुत बड़ी मात्रा में मिट्टी बह गई होती है।

3. अल्पसरित अपरदन (rill erosion)

यह वर्षा बूंद क्षरण की विकसित अवस्था है। अल्पसरित अपरदन में भूमि पृष्ठ पर छोटी व पतली किंतु स्पष्ट नालियां बन जाती हैं जिन्हें अल्पसरित अपरदन कहते हैं। इन्हीं से होकर जल निचली ढालों की ओर बहता है। अपवाह जल का वेग अधिक होने के कारण मिट्टी की विलगनीयता तथा परिवहनीयता दोनों अधिक होती है।

4. अवनालिका अपरदन (gully erosion)

यह अल्पसरित अपरदन की विकसित अवस्था है। अवनालिका अपरदन में अपवाह जल अपेक्षाकृत बड़ी सरिताओं (stream) के रूप में तीव्र गति से बहता है। अवनालिकाओं या खड्डों को भू-परिष्करण की सामान्य प्रणालियों द्वारा भरकर समतल नही किया जा सकता।

5. सरिता नाली अपरदन

प्रावहमान सरिताओं में अपरदन दो रूपों में होता है –

I. सरिता तट अपरदन (river bank erosion)

II. सरिता–नाली में अवसाद का संचलन

सरिता तटों की निकटवर्ती भूमियों का वानस्पतिक आवरण अनियंत्रित चराई आदि द्वारा नष्ट कर दिए जाने अथवा तटों के अत्यंत समीप तक भूपरिष्करण क्रियाएं करते रहने के कारण तटों का अपरदन तीव्रतर हो जाता है।

6. पीठिका अपरदन

जब अधिक अपरदनीय भूमि के कुछ पृष्ठांश वृक्षों की जड़े, पत्थरों या अन्य किसी क्षरणरोधी पदार्थों से ढके होते हैं तो वे भाग अपस्फुरण द्वारा क्षरित नहीं हो पाते, जबकि उन आच्छादित पृष्ठांशों के इर्द-गिर्द की पृष्ठ मृदा क्षरित हो जाती है। अपरदनीय पदार्थों के ढके हुए ये पृष्ठांश पीठिका कहलाती है।

7. श्रृंग अपरदन

यह बूरी तरह से अपरदनित हुई बीहड़ भूमिका लक्षण है। जब बड़े तटों पर ऊपर से नीचे की ओर अत्यधिक मात्रा में अल्पसरित-अपरदन हो जाता है तो जगह-जगह स्तंभाकार श्रृंग दिखाई देते हैं। इनकी मध्यवर्ती मिट्टी बह गई होती है। श्रृंगों के शीर्ष पीठिकाओं की भांति किसी क्षरणरोधी पदार्थ से आच्छादित हो सकते हैं।

8. भू–स्खलन अपरदन (landslide erosion)

खड़े ढालों पर विशेष रूप से खड्ड के तटों और पर्वतीय ढालों पर जब मिट्टी जल से अत्यंत संतृप्त हो जाती है तो मिट्टी खंडों के रूप में स्वचलित होकर नीचे की ओर गिरती है। जब अवमृदा में मृत्तिका (क्ले) आदि की कोई कठोर परत आ जाती है तो ऊपर की ढीली और अदृढ़ीकृत शीर्ष मृदा जल से संतृप्त होकर आसानी से नीचे की ओर स्खलित हो जाती है। स्खलन का मुख्य कारण जल का द्रवीय दाब है जिसकी कार्य दिशा नीचे की ओर होती है।

9. सागरीय अपरदन

हिमानी अपरदन अत्यधिक हिमपात वाले पर्वतीय क्षेत्रों में होता हैं। पर्वतीय ढालों पर वृहदाकार हिमखंड जिन्हें हिमनद कहते हैं, ढालों की ओर स्खलित होती हैं, जिसके परिणामस्वरुप मार्ग में पड़ने वाली चट्टानें विखंडित और विचूर्णित हो जाती हैं।

जल अपरदन को प्रभावित करने वाले कारक

जल द्वारा भू-अपरदन को प्रभावित करने वाले मुख्य कारकों का विवरण इस प्रकार है –

1. जलवायु

जलवायु के अंतर्गत वर्षा, तापमान, वायु, आर्द्रता और सौर विकिरण-जैसी विशेषताएं आती हैं जो भू–क्षरण को प्रभावित करती

हैं। वर्षण का अपवाह उत्पन्न करने वाली विशिष्टताओं से गहरा संबंध होता है। सामान्यतः मृदा हानि और अपवाह जल की मात्रा में सीधा अनुपात पाया जाता है। तापमान और वायु का प्रभाव वाष्पीकरण और उत्स्वेदन की कियाओं पर पड़ता है। वायु के प्रभाव में वर्षा बूंदों का वेग और उनका संघातीकरण बदल जाता है। आर्द्रता और सौर विकिरण भू-अपरदन को प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित नहीं करते। इनका संबंध तापमान से है।

2. मृदा

मृदा के भौतिक, रासायनिक तथा जैविक गुणों का अपरदन की मात्रा और दर पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

3. स्थलाकृति

अपरदन को प्रभावित करने वाली स्थलाकृतिक विशेषताएं इस प्रकार हैं :–

I. ढाल

II. वाह – क्षेत्र का आकार व आकृति

ढाल की प्रवणता, ढाल की लंबाई, समाकृति और ढाल की अभिमुखता-जैसी विशेषतांए मृदा अपरदन को प्रभावित करती हैं।

वाह क्षेत्र का आकार और आकृति दोनों ही अपवाह की मात्रा और दर को प्रभावित करते हैं। लंबे और संकीर्ण वाह क्षेत्रों से अपवाह दर उसी आकार वाले सुडौल क्षेत्रों की अपेक्षा कम होती हैं।

4. वनस्पति

भूमि की सतह पर प्राकृतिक वनस्पतियां, कृषि फसलें व उनके अवशेष इत्यादि अपरदन को कम करने में सहायक होते हैं। इनके मुख्य कार्य इस प्रकार हैं–

i. वर्षा बूंदों का अन्तः रोधन करके क्षरणशील ऊर्जा को कम करना।

ii. अपवापह वेग में गतिरोध उत्पन्न करना।

iii. मृदा संचलन में यांत्रिक व्यवधान उत्पन्न करना।

iv. मृदा संरचना एवं संरध्रता में सुधार करना तथा भूमि जल प्रवेश दर में वृदि्ध करना।

v. मृदा में जैविक क्रियाओं में वृदि्ध करना।

vii. उत्स्वेदन द्वारा मृदा जल का ह्रास करना और इस प्रकार भूमि में जल की मांग को बढ़ाना।

5. भूमि प्रयोग

भूमि प्रयोग, अपरदन और भूमि संरक्षण दोनों ही दृष्टियों से अत्यंत महत्वपूर्ण कारक है। भूमि प्रयोग के अंतर्गत विभिन्न कृषि प्रणालियां तथा संरक्षण विधियां सम्मिलित हैं। वास्तव में त्वरित अपरदन की दर का कम या अधिक होना भूमि प्रयोग पर ही निर्भर है। समुचित कृषि एवं संरक्षण विधियों का बुदि्धमत्तापूर्ण प्रयोग भू–क्षरण को एक स्वीकार्य सीमा के अंदर बनाए रखने के लिए आवश्यक है।

जल अपरदन द्वारा होने वाली हानियां

जल द्वारा होने वाले भू–अपरदन के परिणामस्वरूप होने वाली हानियों का विवरण इस प्रकार है–

i. मृदा समुच्चयों का विखंडन।

ii. विखंडित कणों का मृदा रन्ध्राकाशों में भर जाना और इस प्रकार मृदा की पारगम्यता में बांधा पहुंचना।

iii. मृदा के उर्वरता वाहक सूक्ष्मकणों, पोषक तत्वों, जैव पदार्थ, मृदा जीवाणुओं, फसलों के बीजों तथा नवजात पौधों आदि का अन्यत्र परिवाहित हो जाना।

iv. खड्डों के विकास के कारण भूमि की उपयोग क्षमता में कमी।

v. वनस्पतियों के नष्ट हो जाने के परिणामस्वरूप वन्य जीवों का ह्रास।

vi. जलाशयों में कीचड़ जमा हो जाने के कारण मत्स्य पालन में बाधा।

vii. अवसादन की क्रिया के परिणामस्वरूप जलमार्गों, जलाशयों आदि का उथला हो जाना।

viii. परिवहन–मार्गों का क्षतिग्रस्त हो जाना।

❑❑❑

अध्याय 5

वायु द्वारा मृदा अपरदन

परिचय

अत्यधिक वेग से चलने वाली वायु मृदा कणों को भू–पृष्ठ से ऊपर उठाकर धूल भरे तूफानों के साथ उड़ा ले जाती है। जब धूल भरी हवा का वेग कम हो जाता है तो मृदा के मोटे कण टीलों में इकट्ठे हो जाते हैं और उपजाऊ मृदाएं ढक जाती हैं तथा कृषि के लिए अनुपयोगी हो जाती हैं। कुछ स्थानों में हवा उपजाऊ मृदा का अपवहन करके उसे उड़ा ले जाती है और अवमृदा की परत अनावृत हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप मृदा की उत्पादन क्षमता काफी कम हो जाती है।

वायु अपरदन की समस्या शुष्क और अर्द्धशुष्क क्षेत्रों में पाई जाती है, गर्म और शुष्क जलवायु वाले क्षेत्रों में वनस्पतियों के अत्यंत विरल होने के कारण हवाएं तीव्र और निर्बाध वेग से बहती हैं तथा भूमि पृष्ठ का अपघर्षण करती हैं जिसके परिणामस्वरूप बड़ी मात्रा में मिट्टी के कण वायु के प्रवाह में तंरगायत होते रहते हैं। मरुस्थलीय क्षेत्रों में वायु अपरदन एक विकट समस्या है।

जहां कहीं भी भूमि वनस्पति रहित होती है और जलवायु शुष्क

होती है, वायु द्वारा मृदा अपरदन का भय बना रहता है। शुष्क जलवायु क्षेत्रों, नदियों, समुद्रों और महासागरों के रेतीले किनारों पर वायुवीय अपरदन के लिए अनुकूल परिस्थिति सदा उपस्थित रहती है। प्राकृतिक वनस्पति के रहने पर जलीय अपरदन की तरह ही वायुवीय अपरदन की क्रिया भी बहुत मंद गति से होती है। जब घासों को हटाकर भूमि की जुताई–गुड़ाई के बाद खेती में लाते हैं, धीरे–धीरे जैव पदार्थ समाप्त हो जाते है, जड़ों की बंधन–सामर्थ्य घट जाती है और मृदा कणों को बांधकर रखने वाली शक्ति नहीं रह जाती। ऐसी स्थिति में वायु द्वारा मृदा अपरदन की संभावना बढ़ जाती है।

वायु द्वारा मृदा का अपरदन वनस्पति विहीन एवं शुष्क क्षेत्रों में अधिक होता है। तेज गति से चलने वाली आंधी अथवा तूफान ढेर सारी मृदाओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाती है। वायु द्वारा मृदा के कण एक स्थान से दूसरे स्थान तक तीन प्रकार से ले लाए जाते हैं–

i. हवा के छोटे–छोटे झटकों के साथ (Saltation)
ii. हवा में लटकते हुए (Suspension)
iii. भारी कण धरातल पर लुढ़कते हुए (Surface Creep)

जब कभी धूल भरी वायु का वेग कम हो जाता है तो मृदा के कण टीलों के रूप में एकत्रित हो जाते हैं जिससे उपजाऊ मृदा ढक जाती है और कृषि के लिए अनुपयोगी हो जाती है।

वायु द्वारा मृदा क्षरण की प्रवृत्ति/प्रक्रिया

वायु अपरदन की प्रकिया को तीन चरणों में विभाजित किया जाता है–

i. संचलन का उपकमण
ii. परिवहन
iii. निक्षेपण

i. **संचलन का उपक्रम**

मृदा कणों का संचलन वायु के वेग और विक्षोभ के कारण आरंभ होता है। संचलन की क्रिया के लिए आवश्यक वायु वेगों को दो रुपों में विभाजित किया गया है–

i. तरल सीमांत वेग
ii. संघाती सीमांत वेग

तरल सीमांत वेग वह न्यूनतम वेग है जो मृदाकण के आंरभिक संचलन के लिए आवश्यक होता है।

संघाती सीमांत वेग वह न्यूनतम वेग है जो उत्पत्ति कणों के भूमि पृष्ठ पर संघात के पश्चात पुनः संचलित होने के लिए आवश्यक होता है।

2. **परिवहन**

संचलन की किया के पश्चात मृदा कणों का परिवहन होता है। परिवहन की किया को प्रभावित करने वाले मुख्य कारक इस प्रकार हैं–

i. कणों का आकार एवं कमास्थापन
ii. वायु का वेग तथा बहाव की दिशा
iii. क्षरित क्षेत्र का विस्तार।

वायु अपने वेग और दिशा में अधिक परिवर्तनशील होने के कारण झोकों (Gusts) / भंवरों (Eddies) और प्रतिधाराओं को उत्पन्न करती है जिनके परिणामस्वरूप मृदा कण परिवाहित होते हैं।

3. **निक्षेपण**

जैसे-जैसे वायु का वेग धीमा होता जाता है, वायु के कण धारण बल की अपेक्षा गुरुत्वाकर्षण बल का प्रभाव तीव्रतर होता जाता है और तरंगायित धूलकण अनुवात क्षेत्र में धीर–धीरे जमा होने लगते हैं। इस किया को निक्षेपण कहते हैं।

मृदा संचलन की प्रक्रिया

वायु द्वारा मृदा संचलन की क्रिया तीन रुपों में होती है:– I. निलंबन, II. उत्पतन और III. पृष्ठ सर्पण।

I. निलम्बन

मिट्टी के अत्यंत सूक्ष्मकण (प्रायः 1 मिमी. व्यास से कम) इस अवस्था में संचलित होते हैं। स्टोक्स के नियम के अनुसार तरल माध्यम में किसी कण का निपाती वेग कण के व्यास के समानुपाती होता है। अतः ये सूक्ष्म कण वायु तंरगों में अधिक दूरी तक निलंबन अवस्था में परिवहित होते रहते हैं। निलंबन अव्स्था में परिवहित हो रहे कणों के संचलित होने की अवधि वायु के वेग विक्षोभ और भंवरों पर निर्भर है।

II. उत्पतन

उत्पतन के रूप में सर्वाधिक मात्रा में कण संचलित होते हैं। वास्तव में उत्पतित कण ही निलम्बन अथवा पृष्ठ सर्पण के रूप में संचलित हो सकते हैं। उत्पाती कणों का व्यास प्रायः 0.05 मिमी. से लेकर 0.5 मिमी. तक हो सकता है जब कि सबसे अधिक उत्पतनशील कण 0.1 से 0.15 मिमी व्यास वाले होते हैं।

III. पृष्ठ सर्पण

1.5 मिमी. व्यास के बड़े कण सामान्य वायु द्वारा उत्थापित नहीं हो पाते। परिणामस्वरूप पृष्ठ पर ही लुढ़कते हुए गति करते हैं। इस किया को पृष्ठ सर्पण कहते हैं। इस किया में कणों के आकार की अधिकतम सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती क्योंकि यह वायु की गतिज ऊर्जा पर निर्भर है।

वायु अपरदन को प्रभावित करने वाले कारक

वायु क्षरण मुख्यतः वायु की प्रकृति, मृदा कण, वनस्पति तथा स्थलाकृतिक विशेषाताओं से प्रभावित होता है। वायु का वेग, विक्षोभ,

दिशा और बहाव की अवधि क्षरण को मुख्य रूप से प्रभावित करते हैं।

वायु द्वारा होने वाले अपरदन में वायु, सतह की प्रकृति एवं मृदा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारक होते हैं।

I. वायु एवं वायुवीय अपरदन

वायुवीय क्षरण में वायु की भूमिका होती है–

i. मृदा संचालन का प्रारंभ करना,

ii. कणों का परिवहन एवं

iii. नये इलाकों में उनका निक्षेपण ।

I. मृदा संचालन का प्रारंभ

वायु के सीधे दबाव एवं भूमितल के निकट गतिशील मृदा कणों के प्रभाव के कारण मृदा में गतिशीलता का आंरभ होता है। मृदाकणों में गतिशीलता लाने के लिए वायु का एक न्यूनतम वेग आवश्यक है, जिसे प्रारंभिक वेग कहते हैं। सर्वाधिक क्षरणीय कणों को गतिशील बना देने के लिए आवश्यक न्यूनतम प्रवेग को न्यूनतम तरल प्रारंभिक वेग कहते हैं। सबसे बड़े कणों को गतिशील बनाने के लिए आवश्यक वेग को अधिकतम तरल प्रांरभिक वेग कहते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि तरल माध्यम में गतिशील कणों के प्रभाव के कारण बहुत कम प्रारंभिक वेग आवश्यक होता है।

वायु के वेग एवं कणों के संघाती प्रभाव के कारण क्षरण तेजी से पंखे की तरह पवनाभिमुख दिशा की ओर फैलता जाता है। पवनाभिमुख दिशा की ओर से लाए गए कण पवनाविमुख दिशा की ओर जमा होने लगते हैं।

II. कणों का परिवहन

उच्छलन, निलंबन, एवं पृष्ठीय सर्पण के द्वारा वायुवीय क्षरण की किया के क्रम में कणों का परिवहन होता है।

अ. उच्छलन

उच्छलन की किया में हवा मृदाकणों को छोटी–छोटी उछालों द्वारा स्थानांतरित करती है। इस किया द्वारा स्थानांतरित होने वाले कणों का व्यास 0.1 मिमी से 0.15 मिमी तक होता है। मृदाकणों के ऊपर हवा के सीधे दबाव के कारण उच्छालन की किया आंरभ होती हैं। उच्छालन किया में कणों की आंरभिक उछाल सीधी ऊपर की दिशा में होती है। हवा की गति पर निर्भर होकर बहुत से कण 30 सेमी ऊँचाई तक उछल जाते हैं। गिरते हुए ये कण दूसरे कणों के ऊपर संघात करते हैं, जो इन्हीं की तरह फिर उच्छलन किया के अंग बन जाते हैं। दूसरे कणों पर संघात करने के कारण ऊपर से गिरने वाले कणों की बहुत सारी ऊर्जा शक्ति नष्ट हो जाती है और ये जमीन की सतह पर आकर स्थिर हो जाते हैं या पृष्ठीय सर्पण किया के अंग हो जाते हैं। उच्छालन किया द्वारा कणों का परिवहन इस बात पर निर्भर करता है कि कणों की उच्छलन–ऊंचाई तक के क्षेत्र में वायु प्रवेग का वितरण किस प्रकार था।

ब. निलंबन :

बहुत ही बारीक मृदाकण (0.मिमी से कम व्यास वाले) निलंबित अवस्था में हवा द्वारा स्थानांतरित होती हैं। ये बारीक कण उच्छलन किया में बड़े कणों द्वारा ऊपर फेंक दिए गए होते हैं और इनका परिवहन पूर्णतः वायु की प्रकृति पर निर्भर करता है। निलंबित अवस्था में मृदाकण बहुत दूर चले जाते हैं और क्षरित क्षेत्र से बिल्कुल अलग हो जाते हैं।

स. पृष्ठीय सर्पण :

0.5 मिमी से बड़े परंतु एक मिमी से कम व्यासवाले कण उच्छलन या निलम्बन द्वारा स्थानांतरित नहीं हो सकते। परंतु जमीन की सतह के पृष्ठ भाग पर ये उच्छलन क्रिया के दौरान खिंचे हुए आगे चले जाते हैं।

ऐसा अनुमान लगाया गया है कि 90 प्रतिशत से अधिक कणों का परिवहन भूमि की सतह से 30 सेमी से कम ऊंचाई पर हो जाता है और 50 प्रतिशत से कम ऊंचाई पर हो जाता है और 50 प्रतिशत से कम कण 5 सेमी की ऊंचाई के ऊपर नहीं जा पाते।

III. मृदाकणों का निरक्षेपण

हवा की गति जब न्यूनतम प्रारंभिक वेग से नीचे आ जाती है या कणों का संघाती प्रभाव कम हो जाता है अथवा राह में कोइ अवरोध आ जाता है तब मृदाकण निक्षेपित होकर सतह पर आ जाते है। यह निक्षेपण सर्वदा पवन–विमुख दिशा में होता है और बड़े कण पवनाभिमुख दिशा से पवन–विमुख दिशा की ओर निरंतर कम होती हुई मात्रा में निक्षेपित होते हैं।

2. भू–सतह की प्रकृति और वायुवीय क्षरण

भूमि की सतह अगर वनस्पति से ढकी रहे, तो वायुवीय क्षरण नहीं के बराबर होगा। कितनी मिट्टी अपरदनित होगी, इसका निर्धारण लगी हुई वनस्पति के प्रकार पर निर्भर करती है। वायुवीय क्षरण कम करने में घातों का महत्व अन्य सभी प्रकार की वनस्पति से अधिक माना गया है।

जमीन की सतह जितनी ही खुरदरी, ऊंची–नीची या रूखी होगी, वायुवीय क्षरण उतना ही कम होगा। जिस खेत में मेंड़े बनी होती हैं वहां से मिट्टी की क्षति बहुत ही कम होती है।

3. मृदा और वायुवीय क्षरण

मृदा कणों के आकार की अपेक्षा, मृदा समुच्चय के आकार का महत्व वायुवीय क्षरण में अधिक है। बड़े समुच्चय का अर्थ है मिट्टी का कम क्षरण।

मिट्टी के क्षरित नहीं होने वाले कणों की भूमिका भी वायुवीय अपरदन में महत्वपूर्ण होती है। इन कणों का आयतन जैसे जैसे बढ़ता जाता है, मिट्टी की क्षरणीयता घटती जाती है।

वायुक्षरण को प्रभावित करने वाले प्रमुख मृदा गुण इस प्रकार हैं–

1. मृदा का गठन
2. मृदा की संरचना
3. मृदा का घनत्व
4. जैव पदार्थ
5. मृदा जल
6. मृदा सतह की शुष्कता

वायु अपरदन में मृदा जल का विशेष महत्त्व है। शुष्क मृदाओं की क्षरणशीलता, नम मृदाओं की अपेक्षा अधिक होती है। भूमि सतह पर प्राकृतिक वनस्पतियों अथवा कृषि फसलों की ऊंचाई, आवरण सघनता प्रकार तथा मौसमी वितरण वायुक्षरण की मात्रा और दर को प्रभावित करते हैं। वायु क्षरण में स्थलाकृतिक प्रभाव विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। फिर ढाल की लंबाई अपरदन को प्रभावित करती है।

वायु अपरदन से हानियां

वायु अपरदन द्वारा होने वाली प्रमुख हानियां इस प्रकार हैं–

1. मृदा के महत्वपूर्ण संघटकों जैसे मृत्तिका (क्ले) गाद (सिल्ट) तथा जैव पदार्थों का क्षरित होकर अन्यत्र बह जाना।
2. वाताभिमुख (Windward) क्षेत्र में हल्की और अनुर्वर भूमिकणों का बचे रहना।
3. मिट्टी के संचलन के परिणामस्वरूप फसलों के बीजों, नवजात पौधों आदि का अन्यत्र परिवहित हो जाना।
4. परिवहित मृदा कण के अनुवात (leeward) क्षेत्र में विसर्जन के परिणामस्वरूप फसलों, आवासीय स्थानों, सड़कों, रेल की पटरियों तथा अन्य उपयोगी क्षेत्रों का धूल से भर जाना।

❑❑❑

अध्याय 6

मृदा संरक्षण, सर्वेक्षण एवं मृदा उपयोग क्षमता के आधार पर वर्गीकरण

कृषि योग्य भूमियों में मृदा अपरदन अधिकतम देखा गया है। इसका प्रमुख कारण इस प्रकार की भूमियों में त्रुटिपूर्ण कृषि प्रणालियों को अपनाया जाना है। जब मृदा पर वनस्पति का आवरण होता है तो अपरदन बहुत कम होता है। हमें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मृदा पर खेती करनी होती है। अतएव, कृषि के साथ–साथ मृदा और जल संबंधी क्षतियों को रोकने वाले उपायों का भी प्रयोग किया जाना चाहिए। किसान प्रायः जल, वर्षा और मृदा के प्रकार आदि बुनियादी कारकों पर ध्यान दिए बिना किसी भी उपलब्ध भूमि पर फसल बो देते हैं। यदि कृषि कार्यक्रम को उचित ढंग से नियोजित किया जाए, तो क्षरण के कारण होने वाली मृदा क्षतियों को सरलता से नियंत्रित किया जा सकता हैं। इस प्रकार का नियोजन मृदाओं, वर्षा, क्षरण, स्थलाकृति, सम्बद्ध क्षेत्र में फसलोत्पादन की पद्धति तथा इसी प्रकार के अन्य स्थानीय कारकों पर सुलभ मूलभूत आंकड़ों के अधार पर किया जाना चाहिए। इन कारकों के संबंध में मूलभूत आंकड़ों को इकट्ठा करने के लिए किए जाने वाले सर्वेक्षण को मृदा संरक्षण सर्वेक्षण कहा जाता है।

मृदा सर्वेक्षण का तात्पर्य किसी क्षेत्र विशेष की मृदाओं के प्रमुख अभिलक्षणों का क्षेत्र विशेष की क्षेत्र एवं प्रयोगशाला में अध्ययन तथा अभिलेख करना, उनका सुस्पष्ट इकाईयों में वर्गीकरण करना तथा एक मानचित्र में उनके विस्तार एवं सीमाओं का निर्धारण करना है। यह सर्वेक्षण दोनों आधारभूत एवं उपयोगिता मूलक उद्‌देश्यों की पूर्ति करते हुए एक अनुसंधान कार्य है, जो भूमि के उपयोगी परिणामों पर कार्य करने के लिए कड़ी प्रस्तुत करता है। चूंकि यह विभिन्न मृदाओं की पहचान कराने में सहायक होता है, उनके आवश्यक गुणों का विवेचन करता है और यह मृदा सह-सबंधों तथा गुणों का विवेचन करता है और यह मृदा सह–संबंधो तथा गुणों के लिए सामग्री उपलब्ध कराता है। अतः इसे आधारभूत सर्वेक्षण कहा जाता है। दूसरी ओर यह एक क्षेत्र को आधारित मृदा के पैटर्न को मृदा नक्शों में चित्रण करने का अवसर देता है और यह मृदा को विशेषतः खेती के लिए तथा बहुत से अन्य उद्‌दश्यों के लिए अंगीकार करने के लिए पूर्वानुमान और व्याख्या करने के लिए आधारित आंकड़े प्रस्तुत करता है, अतः इसे उपयोगिता मूलकर सर्वेक्षण कहा जाता है।

किसी क्षेत्र विशेष के लिए सर्वाधिक उपयुक्त भूमि प्रयोग विधियां संस्तुत करने के लिए दो बातों की स्पष्ट जानकारी आवश्यक है–

1. *भूमि की विशेषताओं का अध्ययन*
2. *अध्ययन की गई विशेषताओं का मूल्यांकन*

भूमि की विशषताओं की जानकारी सर्वेक्षण द्‌वारा प्राप्त की जाती है। इस जानकारी के आधार पर विभिन्न प्रकार की भूमियों का मूल्यांकन किया जाता है, जिसमें यह निश्चित किया जाता है कि कौन-सी भूमि किस प्रयोग के लिए अधिक उपयुक्त है तथा उसमें विद्यमान परि–सीमाओं को दृष्टि में रखते हुए सुरक्षात्मक उपाय किस सीमा तक अपनाए जाने चाहिए जिससे कि मृदा हानि एक अनुमेय सीमा (permissible limit)के भीतर ही रहे।

मृदा सर्वेक्षण

मृदा सर्वेक्षण, मृदाओं का प्राकृतिक वातारण में अध्ययन करके उनके मानचित्र खेतों में तैयार करने को कहते है। मृदा सर्वेक्षण के सामान्य रूप से सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों तरह के उद्देश्य हैं। सैद्धांतिक रूप से मृदा सर्वेक्षण से मृदाओं की उत्पत्ति, विकास, वर्गीकरण और नाम पद्धति के बारे में व्यापक जानकारी मिलती हैं। दूसरी ओर व्यावहारिक दृष्टि से मृदा सर्वेक्षण की सहायता से संबंधित मृदाओं की स्थिति, संगठन तथा विशेषताओं का ज्ञान होता है जिससे उस विशेष मृदा के भूत, भविष्य तथा वर्तमान के उपयोगी तथ्यों के बारे में कुछ बताया जा सके। मृदा से संबधित आंकड़ों की व्याख्या की जाती है और उससे कृषि चरागाह के विकास, वानिकी, शहरी विकास और मनोरजंन आदि में भूमि के उपयोग की योजनाओं के लिए आवश्यक सूचना मिल जाती है। साथ ही सिंचित भूमियों के प्रबंध में भी इन आंकड़ों से सहायता मिलती है।

कृषि अनुसंधान केंद्रों में मृदा संबंधी सूचनाओं का उपयोग विभिन्न कृषि अनुसंधानों, उर्वरक परीक्षणों, फसलों के चयन आदि में करते हैं। इस प्रकार मृदा सर्वेक्षण का उपयोग भूमियों के सुधार, मृदा वर्गीकरण, उन्नत फसलोत्पादन, चरागाह विकास, वन भूमि विकास, ग्रामीण एवं नगर विकास आदि में किया जाता है। अतः मृदा सर्वेक्षण भूमि के योजना बद्ध उपयोग के लिए एक महत्वपूर्ण आधार प्रस्तुत करता हैं।

मृदा सर्वेक्षण के उद्देश्य

मृदा सर्वेक्षण के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं :–

1. मृदा प्रोफ़ाइल का अध्ययन करना।
2. मृदा की विशेषताओं का वर्णन करना।
3. वर्गीकरण की कुछ समान प्रणाली की इकाइयों में मृदा को वर्गीकृत करना।

4. किसी विशेष स्थान के उपयुक्त मानचित्र पर मृदा के प्रत्येक वर्ग का विवरण दिखाना।

मृदा सर्वेक्षण के प्रकार -

मृदा सर्वेक्षण तीन प्रकार का होता है –

1. विस्तृत सर्वेक्षण

इस प्रकार का सर्वेक्षण उस स्थान पर किया जाता है जहां मृदाओं का अधिकतम उपयोग होता है।इसके लिए मृदाओं का सूक्ष्म अध्ययन किया जाता है, जिससे छोटे–छोटे स्थानों के बड़े–बड़े नक्शे तैयार किए जा सकें और उस क्षेत्र की छोटी से छोटी आवश्यक सूचना प्राप्त हो सके। गहन उपयोग के क्षेत्रों के लिए ऐसे सर्वेक्षण बहुत उपयोगी होते हैं और विभिन्न प्रकार के उपयोगों के लिए व्यवस्था करने की उचित सूचना उपलब्ध कराते हैं। इस प्रकार के सर्वेक्षण में बहुत समय लगता है।

2. प्रारम्भिक सर्वेक्षण

इसमें महत्वपूर्ण बातों को मानचित्र में दिखाया जाता है। ये मानचित्र अधिक विस्तृत क्षेत्र के संबंध में कुछ तथ्यों को प्रकट कराते हैं। ये सर्वेक्षण पहाड़ी क्षेत्रों जैसे कम महत्व वाले क्षेत्रों में किए जाते हैं। ये विशेषकर नये तथा अपेक्षाकृत अविकसति क्षेत्र के लिए लाभप्रद सिद्ध हुए हैं।

3. प्रारम्भिक विस्तृत सर्वेक्षण

इनमें प्रारंभिक तथा विस्तृत दोनों प्रकार के सर्वोक्षणों को किया जाता है। महत्वपूर्ण भागों का विस्तृत सर्वेक्षण किया जाता है, किन्तु कम महत्वपूर्ण भागों का प्रारंभिक सर्वेक्षण किया जाता है।

मृदा सर्वेक्षण विधियां

मृदा सर्वेक्षण के लिए मृदा प्राफाइल का खेतों तथा प्रयोगशालाओं

में अध्ययन किया जाता है तथा फिर आवश्यक सूचनाओं के आधार पर कुछ विशेष चिन्हों और मान्य विधियों के अनुसार मानचित्र तैयार किए जाते हैं। आवश्यक सूचनाओं में जलवायु भूगर्भ जल का बहाव तथा उनके स्रोत, वनस्पति वर्तमान अवस्था में भूमि के प्रयोग में लाई गई सिफारिशों के संबंध में कुछ वैज्ञानिक आंकड़े, आर्थिक एवं सामाजिक दशा के विषय में जाना जाता है। इन सूचनाओं में स्थानीय दशाओं के अनुसार कुछ परिवर्तन और संशोधन किए जा सकते हैं। इन सूचनाओं के आधार पर मानचित्र एवं रिपोर्ट तैयार करने को उस क्षेत्र का सर्वेक्षण कहते हैं।

किसी क्षेत्र का मृदा सर्वेक्षण शुरू करने से पहले उस क्षेत्र की मृदा संबंधी समस्त उपलब्ध सूचनाएं एकत्रित की जाती हैं और रिकार्ड देखे जाते हैं फिर सर्वेक्षण की योजना बनाई जाती है, आधार मानचित्र तैयार किए जाते हैं और रिकार्ड देखे जाते हैं फिर सर्वेक्षण की योजना बनाई जाती है, आधार मानचित्र तैयार किए जाते हैं, महत्वपूर्ण आधार मानचित्र ऊपर से लिए गए चित्र होते हैं, त्रिकोणिय सर्वेक्षण पर आधारित विस्तृत स्थलाकृति मानचित्र भी लाभप्रद होते हैं। प्रांरभ में उस स्थान की मृदा का निरीक्षण करके उसकी स्थिति एवं भौतिक दिशा को विचार कर मानचित्र बनाने के लिए आवश्यक निर्देशों एवं चकमों की योजना तैयार की जाती है। मृदा सर्वेक्षण के दो मुख्य तथ्य हैं – I. मानचित्र तैयार करने के लिए आवश्यक इकाइयों का विस्तृत विवरण II. मृदा सीमाओं का निर्धारण।

I. मृदा मानचित्र इकाईयां

इन इकाईयों की परिभाषाएं जानना अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि ये सही मानचित्र बनाने में सहायक होती हैं, ये इकाईयां निम्नलिखित हैं –

मृदा श्रेणी

ये मृदाओं के उन समूहों के लिए प्रयोग की जाती है जिनको प्रोफाइल के संस्तर गुणों तथा विशेषताओं में समानता रखते हों तथा

इनकी अवस्था भी समान हो और ये मृदाएं एक ही तरह के पैतृक पदार्थ से बनती हैं तथा इन मृदाओं की ऊपरी सतह के कणाकार में भिन्नता हो सकती हैं। इन मृदाओं के नाम उस स्थान के अनुसार रख दिया जाता है जहां वे विकसित होती है।

मृदा श्रेणी मृदाओं के धरातल,जल निकास, प्रोफाइल के गुणों के बारे में सूचना देती है। इनके साथ–साथ यदि कोई और विशेषता, जैसे मृदा में धब्बों का होना, कंकड़ या फिर कठोर परत का पाया जाना व मृदा की प्रवेश्यता का वर्णन भी श्रेणी के अंदर आता है।

मृदा प्रकार

मृदा श्रेणियों का उपविभाजन मृदा प्रकार को प्रकट करता है। इसका नाम मृदा सतह के कणाकार के अनुसार दिया जाता है। नामकरण करने लिए श्रेणियों के नाम के आगे ऊपरी संस्तरों के कणाकार का नाम जोड़ दिया जाता है। जैसे बलुई दोमट, मटियार दोमट, तिस्वा सिल्टी, क्ले लखोली बलुई लोम।

मृदा प्रावस्था

मृदा सर्वेक्षण में प्रावस्था, मृदा ढाल, अपरदन की मात्रा, पथरीलापन चट्टानीपन और लवणता के संदर्भ में प्रकारों में अधिकतम उपविभाजन है। इस प्रकार से बने समूह मृदा प्रावस्था को प्रकट करते हैं। इससे प्रयोगिक महत्त्व की बातों में अंतर स्पष्ट होता है जैसे पथरीली दोमट, बालू, दोमट।

मृदा संकुल

यह मृदा वर्गीकरण की कोई किस्म नहीं है, बल्कि मानचित्र की कई इकाईयों का सामूहिक रूप है। ये दो या दो से अधिक किस्मों या श्रेणियों की मृदाओं के मानचित्र में दिखाने की इकाइयां हैं। ये मृदाएं कम क्षेत्र में एक दूसरे से जुड़े रहने के कारण, मानचित्र में पृथक नहीं

दिखाई जा सकती। मृदा संकुल का नाम मृदा की किस्मों तथा इनके प्रतिशत संगठन के अनुसार पड़ता है।

मृदा समूह

यह इकाई भी मृदा संकुल के समान है। कैटिना ऐसी ही इकाई है जिसके द्वारा एक ही प्रकार के पैतृक पदार्थों से निर्मित विभिन्न प्रकार की मृदाओं को मानचित्र में दिखाया जाता हैं।

विशेष मानचित्र इकाइयां

उन क्षेत्रों में जहां प्राकृतिक मृदाएं न हों या कम हों या जल मृदा वर्गीकरण सुगम न हो, तो अनेक प्रकार की मृदाओं को मानचित्र में दिखाने के लिए ये इकाइयां प्रयोग की जाती है। उदाहरणार्थ– कछार भूमि, दलदल पठार, चट्टानी मृदाएं, टूटी-फुटी मृदाएं, भूकंप से अव्यस्थित मृदाएं आदि।

निर्देश

यह मृदा के मानचित्रों की इकाइयां तथा उनके चिह्नों की सूची होती है। निर्देश की इकाइयां, मृदा की स्थिति, किस्म तथा उसके सर्वेक्षण के अनुरूप होनी चहिए।

मृदा परिच्छठछेदिका

मृदा परिच्छेदिका मृदा के लंबवत् काटे हुए भाग को कहते हैं, जिसमें विभिन्न संस्तर जो एक दूसरे से रंग, कणाकार, संरचना और गाढ़ता में विभिन्न होते हैं, सम्मिलित होते हैं। परिच्छेदिका की जांच 5 या 6 फीट के गहर खोदकर की जाती है। मृदा परिच्छेदिका के विवरण में जहां गड्ढ़ा खोदा जाए समस्य जानकारी होनी चाहिए, जैसे भूतल स्थिति, प्राकृतिक वनस्पति, मृदा अपरदन, पानी का बहाव, गांव, जिला, रास्ता आदि मृदा परिच्छेदिका की विशेषताओं जैसे

विभिन्न संस्तरों का वर्णन, भौतिक तथा अन्य विशेष गुणों का विस्तृत रूप से वर्णन होना चाहिए।

मृदा का मानचित्र बनाना

मानचित्र तैयार करना एक कला है, जिसके लिए भौगोलिक पहलुओं का ज्ञान आवश्यक है। मानचित्र की इकाइयां तथा विभिन्न चिन्हों की सूची की सहायता से इन चित्रों को शूरू करना चाहिए। मृदा का मानचित्र पहाड़ों व नदियों आदि आकृति लक्षणों से संबंधित मृदा की इकाइयों का विवरण दिखाता है। मृदा सर्वेक्षण मानचित्र मृदा किस्म, जल के साधन स्रोत नहर जलाशय, भवन व सड़के, भू–तल पहाड़, खाड़ी, कन्टूर, ढाल की मात्रा आदि को दर्शाता है।

मानचित्र के रंग भरने तथा छपाई के पश्चात क्षेत्रों के भूतल रूप, जलवायु, खेतीबारी आदि के विचार विमर्श की एक बुलेटिन भी संलग्न कर दी जाती है। यह बुलेटिन निम्न के विषय में सूचना देती है :

1. जलवायु –वर्षा, ताप, धूप, हवा तथा मौसम की अवधि।
2. कृषीय इतिहास, सांख्यिकीय विधियां और प्रबंध।
3. मृदा की किस्म, उसका कणाकार, ह्यूमस की मात्रा, पोषक तत्वों की मात्रा आदि।
4. मृदा निर्माण करने वाले पदार्थ एवं प्रक्रम।
5. भूमि वर्गीकरण।
6. प्रयोगशाला प्रबंध के लिए प्रस्ताव।
7. स्थिति, आकार, साधन परिवहन, बाजार की सुविधाएं।

मृदा विशेषताओं के लिए प्रयोगशाला में विश्लेषण–सर्वेक्षण के लिए मृदा का प्रयोगशाला में विश्लेषण करना आवश्यक है। इससे मृदा को भली भांति जाना जा सकता है। प्रयोगशाला में किए जाने वाले कार्य की प्रकृति तथा कुल विश्लेषण परिणाम मृदा सर्वक्षण के प्राथमिक उद्देश्य पर निर्भर होते हैं। मृदा विश्लेषण के लिए पहले

हम मृदा नमूने खेत से एकत्रित करते हैं, फिर उनका कूट–छानकर विश्लेषण करते हैं, जिसमें यांत्रिक विश्लेषण, पी.एच. कार्बोनेट कार्बनिक पदार्थ, कुल विलेय लवण, जल–धारण क्षमता, प्रवेश्यता, आर्दता गुणांक आदि का निर्धारण करते हैं।

मृदा मोनोलिथ (soil monolith)

ये महत्वपूर्ण मृदा प्रोफइल के स्थाई अभिलेख होते हैं। ये मृदा परिच्छेदिका को धातु या लकड़ी के बक्सों में मृदा में पाई जाने वाली अवस्था में ही सुरक्षित रखकर बनाए जाते हैं। विनाइल रेजिन की तरह पारदर्शी व चिपचिपे पदार्थ भी मोनोलिथ को प्राकृतिक अवस्था में सुरक्षित रखने के लिए प्रयोग किए जाते हैं। भारत में मोनोलिथ 6"×2"×48"या 60" आकार के लकड़ी के बक्सों में तैयार किए जाते है। इन बड़े मोनोलिथ का बनाना कौशल एवं दक्षतापूर्ण कार्य है। इसलिए सूक्ष्म मोनोलिथ सुविधाजनक होते हैं तथा 3"×1.5"×12" के आकार के लकड़ी के छोटे बक्सों में तैयार किए जाते है। मोनोलिथ मृदा का प्राकृतिक मृदा नमूनों को प्रदर्शित करती हैं तथा ये अध्ययन में भी सहायक हैं।

मृदा सर्वेक्षण रिपोर्ट

सर्वेक्षण रिपोर्ट के बिना मृदा सर्वेक्षण अधूरा ही माना जाता है। रिपोर्ट में अन्वेषणों के परिणाम अथवा आंकड़े दिए जाते हैं। रिपोर्ट और मानचित्र एक दूसरे के पूरक होते हैं। इन आंकडों की विशेषता तथा इनके आकस्मिक परिवर्तनों को इस रिपोर्ट में भली–भांति कारण सहित समझाया जाता है। रिपोर्ट प्रायः कृषि दृष्टिकोण को लेते हुए मुख्य सूचनाएं प्रदान करती है। सर्वेक्षण रिपोर्ट प्रायः निम्न को सम्मिलित करके लिखी जाती हैं :

1. सर्वेक्षण का प्राथमिक उद्देश्य
2. क्षेत्र का सामान्य वर्णन – जैसे स्थिति, आकार, जल निकास,

पानी का बहाव, भूगर्भज्ञन, जलवायु, प्राकृतिक वनस्पति, सामान्य कृषि एवं मृदा उपयोग, सामाजिक, आर्थिक दशा एवं समस्यायें।

3. मृदा बनाने वाले कारकों, मृदा वर्गीकरण तथा मानचित्र में दिखाई गई इकाइयों का विस्तृत वर्णन।
4. मृदा फसलों के संबंध।
5. आवश्यक तालिकाएं, चित्र तथा अन्य सूचनाएं।

मृदा सर्वेक्षण से लाभ

1. मृदाओं के वर्गीकरण, उनकी जानकारी तथा मानचित्र बनाने में सहायक है।
2. मृदा सर्वेक्षण करने से मृदा संरचना के विषय में ज्ञान प्राप्त हो जाता है जिससे कि कृषकों को खेती-बाड़ी में संकेत दे सकते हैं।
3. मृदाओं को अपरदन से बचाने तथा अधिक उत्पादन के लिए पहले से उपाय किए जा सकते हैं।
4. किसानों को खाद एवं उर्वरकों के उपयोग के विषय में सूचना दी जा सकती है।
5. इससे मृदा के मूल्यांकन, प्रबंधन एवं नियंत्रण में बड़ी सुविधा मिलती है।
6. मृदा सर्वेक्षण बांधों में, मार्गों के निर्माण में, नहरों व सिंचाई के अन्य साधनों को जुटाने में तथा बाढ़ की रोकथाम तथा नियंत्रण में सहायता मिलती है।
7. सर्वेक्षण से मृदा की किस्म का ज्ञान प्राप्त हो जाता है जिससे विभिन्न प्रकार की फसलों को उगाने के लिए मृदा का चुनाव कर सकते हैं कि कौन–कौन सी फसलें किन–किन मृदाओं में सफलतापूर्वक हो सकती हैं।

8. कृषि उद्योगों के लिए स्थिति का पता लगाने में।
9. ये सभी प्रकार की मृदा एवं कृषीय अन्वेषणों का आधार हैं।

मृदा क्षमता/उपयोगिता वर्गीकरण

यह कैसी आश्चर्य की बात है कि एक ओर तो उपजाऊ मिट्टी भू–अपरदन दवारा नष्ट हो रही है और दूसरी ओर हम अपनी आवश्यकता के लिए मकान इसी उपजाऊ कृषि क्षेत्र पर पहले से ही बिछा रखा है । बाग, पार्क तथा अन्य मनोरंजक स्थलों के लिए भी कृषि भूमियों का ही उपयोग किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में कृषि योग्य उपजाऊ भूमि निंरतर कम होती चली जा रही है जबकि मृदा वैज्ञानिकों दवारा वर्षो से भूमि क्षमता वर्गीकरण के अनुसार ही कृषि बागवानी करने तथा मकान, चिड़ियाघर व पार्क इत्यादि बनाने की अपील की जाती रही हैं।

मृदा सर्वेक्षणों से जो सूचना मिलती है वह मृदा प्रबंधन से संबंधित होती हैं और उसकी व्यवस्था कई तरीकों से की जाती है। ऐसा ही एक व्याख्यात्मक भूमि क्षमता वर्गीकरण है जो मुख्यतः कृषि कार्यों के लिए विभिन्न प्रकार की मृदाओं की उपयोगिता बनाता है। भूमि क्षमता वर्गीकरण भूमि के सिकी टुकड़े उपयोग की सीमा निर्धारण करता है और संरक्षण समस्याओं को स्पष्ट करने तथा संभावित उपचार सुझाने में सहायक होता है। क्षमता वर्गीकरण निम्नांकित तीन संवर्गों में किया जाता है :

1. क्षमता वर्ग
2. क्षमता उपवर्ग
3. क्षमता इकाइयां

क्षमता वर्ग

भूमि क्षमता के आठ वर्ग होते हैं, जिन्हें रोमन अंकों (जैसे I,II,III)

द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। इनमें प्रथम चार तो फसलोत्पादन के लिए उपयुक्त मृदाएं होती हैं, तथा शेष चार अनुपयुक्त होती हैं। लेकिन उनमें तीन चरागाह एवं घास आदि के लिए उपयुक्त होती हैं। अंतिम आठवां वर्ग इसके लिए भी अनुपयुक्त होता है। ये आठ वर्ग निम्नलिखित हैं–

वर्ग I

इस वर्ग की मृदाएँ प्रायः सभी दृष्टिकोण से उचित होती हैं। ये समतल, गहरी, उपजाऊ तथा फसलोत्पादन के लिए बहुत उपयुक्त होती हैं। इस वर्ग में मृदाओं की जल धारण क्षमता अधिक होती है। इनमें जल निकास भी ठीक होता है तथा दो या तीन फसली खेती की जा सकती है।

वर्ग II

ये लगभग वर्ग II के प्रकार की मृदाएं होती हैं लेकिन इनमें ढलान का प्रतिशत अधिक होता है जिससे अपरदन की संभावना रहती है। इनमें पारगम्यता तथा जल निकास मंद गति से होता है तथा जल धारण क्षमता वर्ग I से कम होती है। इन विकारों के कारण इनमें फसलों के चुनाव में ध्यान देना पड़ता हैं।

वर्ग III

वर्ग I और II वर्ग की मृदाओं में जो फसलें उगाई जाती हैं वही फसलें इस वर्ग की मृदा में भी उगाई जा सकती हैं। इस प्रकार की मृदाओं में साधारण खड़ी ढलान होती है और मृदा अपरदन की संभावना अधिक होती है। इनमें जल धारण क्षमता तथा उर्वरता बहुत कम होती है। फसलोत्पादन के लिए भूमि संरक्षण, फसल चक्र, जैविक खादों का प्रयोग नमी, संचय के उपाय तथा आवश्यकतानुसार नाट्रोजन उर्वरक का प्रयोग करते हैं।

वर्ग IV

इस वर्ग की मृदाएं प्रायः बहुवर्षीय घास लगाने के लिए उपयुक्त होती हैं। परंतु उचित प्रबंधन के साथ फसलोत्पादन भी किया जा सकता है। इस वर्ग की मृदाओं में ढलान खड़े होते हैं। मृदा अपरदन अधिक होता है, मृदाएं उथली होती है, जल धारण कम होती है। जल निकास अच्छा नहीं होता।

वर्ग V

इस वर्ग की मृदाएं कृषि के लिए अनुपयुक्त होती हैं इनमें कंकर–पत्थर की अधिकता होती है और जल विकास उचित नहीं होता। इन मृदाओं में चरागाह या जंगल लगाए जा सकते हैं।

वर्ग VI

इस वर्ग की मृदाएं भी कृषि के लिए अनुपयुक्त होती हैं। ये उथली शुंष्क होती है तथा जल निकास अच्छी तरह नहीं होता। इनमें प्रायः अवनालिकाएं भी पाई जाती हैं। इनको कभी–कभी चरागाह या जंगल के लिए प्रयोग किया जा सकता हैं। लेकिन इसके लिए मृदा संरक्षण के उपाय अपनाने होते हैं।

वर्ग VII

ये प्रायः खड़े ढाल वाली, मृदा अपरदनित, पथरीली, उथली शुष्क या दलदली होती हैं। यदि उचित प्रंबधन किया जाए तो इसमें कभी–कभी वृक्षारोपण संभव हो सकता है।

वर्ग VIII

इस वर्ग की मृदाओं में किसी भी प्रकार की व्यावसायिक फसलें व पौधे नहीं उगाएं जा सकते हैं। इसके अन्तर्गत दलदली मृदाएं, मरुस्थली गहरी नालियां, पहाड़ी क्षेत्र, खड़े ढाल वाली मृदाएं आदि आती हैं। इस वर्ग की भूमियां मुख्यतः जंगली जीव मनोरंजक पार्क आदि के लिए उपयुक्त होती है।

क्षमता उपवर्ग

ये क्षमता वर्गों के उपविभाजन हैं जो कि चार प्रभावी सीमितताओं के आधार परखते हैं। सीमितताएं इस प्रकार हैं–

1. अपरदन का जोखिम (e)
2. गीलापन, जल निकास या बह निकलना (w)
3. जड़ क्षेत्र सीमितता (s)
4. जल वायु सीमितता (c)

सीमितता चिन्ह को क्षमता वर्ग के अंक के साथ जोड़कर उपवर्ग मानचित्र किए जाते हैं जैसे **IIe IIIs** आदि।

क्षमता इकाई

यह क्षमता उपवर्गो के आगे उपविभाजन है। एक क्षमता इकाई में वे मृदाएं जो अपने गुणों, सभाव्यताओं और सीमितताओं में काफी समान होती हैं तथा जिन्हें काफी हद तक समान संरक्षण उपचारों और प्रबंधन कार्य प्रणालियों की आवश्यकता होती है।

सार रूप में कहा जा सकता है कि मिट्टी एक अमूल्य संसाधन है। अतः इसका उपयोग बहुत सूझ–बूझ के साथ किया जाना चाहिए।

कृषि कार्यों के लिए उपयुक्त भूमि पर कृषि कार्य होने ही चाहिए न कि निर्माण कार्यं मकान, पार्क इत्यादि के निर्माण के लिए, जहां तक संभव हो सके, बंजर तथा अनुपजाऊ भूमि का ही उपयोग करना चाहिए।

प्राकृतिक आपदाओं (भू–अपरदन, भू–स्खलन) इत्यादि से होने वाले नुकसान को तो हम बहुत अधिक कम नहीं कर सकते हैं किंतु अपनी सूझ–बूझ से उचित कार्यों के लिए उचित भूमि का चयन करके बहुत कुछ कर सकते हैं। आवश्यक कार्यों के लिए उपजाऊ अनुपजाऊ भूमि के चयन से संबंधित हमारा उचित निर्णय न सिर्फ भूमि की

उर्वरता को सुरक्षित रख सकता है अपितु इससे बढ़ते मुंह और घटते भोजन के बीच की खाई को भी काफी हद तक पाटा जा सकता है।

मृदा संरक्षण हेतु भूमि की प्रत्येक इकाई का उपयोग, उसकी सामर्थ्य और उसकी सीमा को ध्यान में रखकर किया जाए। किसी भूमि का निर्धारण करने के लिए निम्नलिखित गुणों को देखा जाता है:

1. मृदा की प्रभावकारी गहराई,
2. पृष्ठीय मृदा का गठन,
3. अवमृदा की पारगम्यता,
4. पृष्ठीय मृदा की गहराई,
5. उपलब्ध नमी सामर्थ्य,
6. अभिक्रिया (अम्लीय, क्षारीय अथवा उदासीन),
7. प्राकृतिक जल निकास,
8. अन्तर्निष्ठ उर्वरता ,
9. जैव पदार्थों की मात्रा,
10. ढ़ाल,
11. भू–अपरदन,
12. लवणीयता और
13. गीलापन।

भूमि की सामर्थ्य एवं सीमा को ध्यान में रखकर बनाए गए इन वर्गों में से वर्ग एक, दो, तीन, चार का उपयोग खेती के लिए किया जा सकता है, परंतु संघनता निरंतर घटती जाएगी। जहां वर्ग एक की भूमि में कोई भी खराबी नहीं होती और सघन खेती इच्छानुसार की जा सकती है, वहां वर्ग चार की भूमि में बहुत सारी खराबियां (जैसे अत्यधिक अपरदन, कम उर्वरता, कम गहराई आदि) आ जाती है और बहुत ही कम समय के लिए उनमें फसल उत्पादन करना संभव हो

जाता है। सामान्यतः ऐसी जमीन में चार–पांच साल में एक बार धान्य फसलें लगाई जा सकती हैं। वर्ग पाचं से सात तक की जमीन पशुचारण के लिए व्यवहृत होनी चाहिए, परंतु पांच से सात तक निरंतर उसके उपयोग की सघनता में कमी आ जाएगी। वर्ग सात की जमीन जंगल लगाने के काम आ सकती है। पर आठ का उपयोग मात्र मनोरंजन स्थलों के निर्माण में हो सकती हैं।

❑❑❑

अध्याय 7

प्रक्षेत्र जलाशय तथा जल समेट प्रबंधन

प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध एवं अवैज्ञानिक तरीकों से दोहन के फलस्वरूप इन प्राकृतिक संसाधनों का जिनमें भूमि, जल, वायु, एवं वन प्रमुख हैं, का अत्यंत तेजी से क्षरण को रहा है। इन संसाधनों के ऊपर बढ़ते हुए दबाव एवं इनके समुचित प्रबंधन के अभाव के परिणामस्वरूप इनकी क्षमता एवं गुणवत्ता में निरंतर ह्रास हो रहा है। इन संसाधनों की स्थिति में वांछनीय सुधार एवं दीर्घकालिक गुणवत्ता संजोए रखने के लिए समुचित प्रबंधन का होना अत्यंत आवश्यक है। चूंकि यह एक विश्वव्यापी समस्या है अतः इसके निदान हेतु वृहत स्तर पर प्रबंधन परियोजनाओं के माध्यम से वांछित परिणाम निकल सकता है। जल समेट क्षेत्र जिसको जल संभरण क्षेत्र अथवा जलागम क्षेत्र भी कहते हैं, को इकाई यह कार्य उचित प्रकार किया जा सकता है।

जल समेट क्षेत्र प्रबंध

जल समेट क्षेत्र का तात्पर्य यह है कि किसी जलाशय या नदी/नाले में कितने क्षेत्र से पानी बहकर आता है। किसी भू–भाग का

वह प्राकृतिक खंड जिसका अपवाह किसी एक निश्चित निकास बिंदु पर मिलता है, जल समेट क्षेत्र कहलाता है। यह एक जल निकास बेसिन है जो प्रायः मेड़ या अवनालिकाओं के द्वारा अलग होता है।

दूसरे शब्दों में जल समेट क्षेत्र अथवा जल संभरण क्षेत्र–"एक ऐसी प्राकृतिक भौगोलिक इकाई है जिसमें गिरने वाला जल अनेक छोटी–छोटी नदियों अथवा नालों से संभरित होते हुए एक प्रमुख नदी के माध्यम से अंततः केवल एक निर्दिष्ट स्थान से ही क्षेत्र से बाहर निकलता है।" एक बड़े जल संभरण क्षेत्र में अनेक उप–संभरण क्षेत्र शामिल हो सकते हैं। प्रत्येक क्षेत्र का आकार एवं सरंचना वहां की भौगोलिक परिस्थितियों पर निर्भर करती है।

जल समेट विकास कार्यक्रम के उद्देश्य

1. भूमि उपयोग को बेहतर तरीके से क्रियान्वित करना एवं उत्पादन वृद्धि पर बल देना।
2. पानी के बहाव को नियंत्रित करके मृदा कटाव रोकना।
3. जल को संग्रहित करके भूमिगत जल में वृद्धि करना।
4. बाढ़ को नियंत्रित करना एवं नदियों में जमाव होने वाले गाद को रोकना।
5. उपयुक्त कृषि, बागवानी एवं चरागाह पद्धतियों का विकास करना।
6. प्राथमिक संसाधनों का बेहतर उपयोग करना।
7. ग्रामीण क्षेत्रों का सामाजिक एवं आर्थिक विकास करना।

जल समेट क्षेत्र प्रबंधन

जल समेट क्षेत्र प्रबंधन की अवधारणा मुख्यतः भूमि, जल एवं पर्यावरणीय क्षरण को नियन्त्रित कर इन प्राकृतिक संपादओं का

उपयोग इस प्रकार करने को प्रेरित करती है कि इनसे उच्चतम कृहष उत्पादन स्तर को प्राप्त करते हुए इनकी मात्रा एवं गुणवत्ता चिर स्थाई बनाई रखी जा सके।

जल समेट क्षेत्र का प्रारंभिक उद्देश्य इसके क्षेत्र से संभरित होने वाले जल की मात्रा एवं गुणवत्ता को नियंत्रित करना है। जहां पर जितने जल की आवश्यकता है वहां उतनी मात्रा में उचित गुणवत्ता युक्त जल जोकि विभिन्न रसायनों से रहित हो, को प्राप्त करने हेतु उचित तकनीकियों का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणस्वरूप कम वर्षा वाले क्षेत्रों में वर्षा के अधिक से अधिक जल संरक्षित करने हेतु एवं ऐसे किसी स्थान पर जहां से जल समेट क्षेत्र से किसी तालाब अथवा बांध में पानी संग्रहित करना हो, आवश्यक आपूर्ति हेतु समुचित उपाय किए जाते हैं।

जल समेट क्षेत्र प्रबंधन के मुख्य उद्देश्य

जब जल समेट क्षेत्र से प्राप्त होने वाले जल की मात्रा एवं गुणवत्ता पर नियंत्रण हो जाता है तदुपरांत उस क्षेत्र के समग्र विकास के लिए विभिन्न कार्यों को चलाना आवश्यक होता है। इन कार्यक्रमों में शस्य विज्ञान संबंधी कार्यक्रम, वनीकरण, उदयानीकरण, पशुपालन, मछलीपालन, शिक्षा एवं स्वास्थ्य संबंधी कार्यक्रम तथा संचार एवं यातायात इत्यादि कार्यक्रम प्रमुख हैं। इस प्रकार उस क्षेत्र की जनसंख्या को विकासोन्मुखी बनाया जा सकता है।।

इन कार्यक्रमों की सहायता से मृदा एवं जल को संरक्षण के साथ–साथ पर्यावरण संतुलन बनाए रखने से उस क्षेत्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान होता है। संक्षेप में जल संभरण क्षेत्र प्रबंधन के विभिन्न उद्देश्यों को निम्न बिंदुओं के अंतर्गत रखा जा सकता है:

1. वर्षा के जल को अधिक से अधिक मात्रा में भूमि के अंदर समाहित कर कम वर्षा वाले क्षेत्रों में मृदा नमी की उपलब्धता में वृद्धि करना,

2. वर्षा के जल को संग्रहित कर उसे घरेलू, कृषि उद्योगों एवं अन्य उपयोगी कार्यों में प्रयुक्त करना।

3. भूमि एवं जल संरक्षण की विभिन्न विधियां अपनाकर मृदा अपरदन को नियंत्रित करना।

4. पर्यावरणीय संतुलन बनाए रखने हेतु भूमि के वानस्पतिक आवरण को बनाए रखना।

5. कृषि की आधुनिक विधियां अपनाकर कृषि उत्पादन आधार को स्थाई रखते हुए कृषि के उच्चतम उत्पादन स्तर को प्राप्त करना जोकि दीर्घकालिक एवं स्थाई हो।

प्रबंधन कार्यों की रूपरेखा

जल समेट क्षेत्र प्रबंधन एक बहुआयामी व्यवस्था है जिसमें अनेक विभागों के भागीदार होने की आवश्यकता है। संक्षेप में इस रूपरेखा को निम्नलिखित बिंदुओं के माध्यम से दर्शाया जा सकता है :

भूमि संरक्षण

- सस्य वैज्ञानिक उपाय।
- अभियांत्रिकी उपाय।
- अभियांत्रिक संरचनाए।
- वानिकी उपाय।

जल संग्रहण और जल उपयोग

- तालाबों का निर्माण करना।
- बांधों का निर्माण करना।
- भूमि के अंदर नमी संचय।
- समुचित जल बहन प्रणाली का विकास।

भूमिगत जल संग्रहण

- भूमि की अंतस्पंदन (Infiltration) क्षमता में सुधार करना।
- भूमि की जल–ग्रहण क्षमता (water holding capacity) में सुधार करना।
- जलगत भूमि का समुचित दोहन।
- भूमि नमी ह्रास को कम करना।

समुचित भूमि उपयोग और फसल प्रणाली

- भूमि उपयोग क्षमता वर्गीकृत करना।
- समुचित फसल–प्रणाली (Cropping system) का चयन करना।
- समुचित फसल–चक्र (Crop rotation) व्यवस्था अपनाना।
- वैज्ञानिक मानदंडों एवं पद्धति के अनुसार कृषि कार्य संपादित करना।

अन्य विकास कार्यक्रम

- पशुपालन और पशु स्वास्थ्य कार्यक्रम
- वनीकरण और उद्यानीकरण।
- अच्छी परिवहन प्रणाली एवं बाजार व्यवस्था।
- शिक्षा और स्वास्थ्य संबंधी कार्यक्रम।

जल प्रबंधन व्यवस्था

- समुचित जल निकास प्रणाली का विकास।
- आधुनिक एवं उच्चदक्षतायुक्त सिंचाई विधियों का उपयोग
- सिंचाई नालियों का नवीनीकरण एवं पक्का करना।

- नई सिंचाई नालियों का निर्माण
- जीवन रक्षक सिंचाई विधियां।

जन भागिता और जन सहयोग

- अधिक से अधिक जन भागिता एवं जन सहयोग प्राप्त करने हेतु जल समेट क्षेत्र प्रबंधन के प्रति स्थानीय लोगों में जागरूकता एवं विश्वास पैदा करना।
- आवश्यकता आधारित, जन उपयोगी, सस्ती, आसान एवं अधिक दक्षतायुक्त तकनीकियों का विकास ताकि अधिक से अधिक स्थानीय स्तर पर उनका प्रयोग एवं उपयोग को सकें।
- जल कल्याण संबंधी उपायों को लागू करना।
- कार्यक्रम क्रियान्वयन में अधिक से अधिक पारदर्शिता रखना।
- कार्य की रुपरेखा और संचालन स्थानीय लोगों द्वारा संचालित करना।

जल समेट प्रबंधन व्यवस्था के प्रमुख चरण

संपूर्ण जल समेट व्यवस्था को निम्न चरणों में विभक्त किया जा सकता है। प्रबंधन व्यवस्था की सफलता हेतु प्रत्येक चरण का उपयुक्त एवं अभीष्ट होना आवश्यक है।

- उपयुक्त जल समेट का चुनाव।
- संसाधनों का सर्वेक्षण एवं चिन्हीकरण।
- कार्यक्रम निर्धारण।
- कार्यक्रम कार्यान्वयन।
- कार्यक्रम मूल्यांकन
- आख्याकरण

कार्यक्रम आंकलन और मूल्यांकन

कार्यक्रम की सफलता प्रत्येक चरण की सफलता पर निर्भर करती है। कार्यक्रम के क्रियान्वयन होने के बाद मूल्यांकन इस बात की ओर इंगित करता है कि कार्यक्रम के लागू होने से कितना सुधार हुआ। इस हेतु क्या लक्ष्य थे तथा उन लक्ष्यों की कितनी प्राप्ति हुई। मूल्यांकन हेतु उचित सूचकांकों का चयन करके कार्यक्रम के पहले एवं कार्यक्रम लागू होने के बाद की स्थितियों का आंकलन किया जाता है ताकि कार्यक्रमों का सही मूल्यांकन हो सके। इस हेतु सूचकांक चयन करते समय निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए :

- सूचकांक स्थिर हों।
- सूचकांक संवेदनशील हों।
- सूचकांक विशिष्ट हों।
- सूचकांक निश्चित एवं प्रायोजक हों।
- सूचकांक आसानी से गणना योग्य हों।

इन विभिन्न सूचकों को विभिन्न श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है जो निम्न प्रकार हैं:–

- तकनीकी सूचकांक
- सामाजिक सूचकांक
- आर्थिक सूचकांक
- पर्यावरणीय सूचकांक
- आवश्यक सेवा सूचकांक।

कार्यक्रम का आकलन एवं मूल्यांकन कार्यक्रम लागू होने के साथ–साथ एवं दीर्घकालिक स्तर पर कार्यक्रम लागू होने के उपरांत किया जाता है।

जल समेट क्षेत्र का चयन

प्रत्येक चयनित ग्राम में लगभग 500 हेक्टेयर जल समेट क्षेत्र पहचाना जाना चाहिए जिसका चयन जल समेट विकास दल पंचायत/ग्रामीण समुदाय के साथ विचार–विमर्श करके किया गया हो। जल समेट क्षेत्र चयन हेतु सुदूर संवेदन प्रणाली, जो उपग्रह द्वारा संचालित होती है, की सहायता लेना अति लाभपूर्ण रहता है। जल समेट क्षेत्र के आकार का निर्धारण निम्न बिंदुओं को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए।

1. वह क्षेत्र, जहां पीने के पानी का भीषण संकट हो एवं उस क्षेत्र में परती या सार्वजनिक उपयोग की भूमि की अधिकता हो।
2. विकसित किए जाने वाले जल समेट क्षेत्र पर आश्रित लोगों में अ.जा./अ.ज.जा. की अधिकता हो। कृषक परिवारों में लघु सीमांत एवं भूमिहीन कृषकों की अधिकता हो।
3. सामान्य न्यूनतम मजदूरी से कम दर पर श्रम उपलब्ध हों।
4. सामान्यताः 500 हेक्टेयर भूमि का चयन करते हैं, परंतु वास्तविक सर्वेक्षण के बाद यह कम ज्यादा हो सकती है। कुल क्षेत्र के 60 प्रतिशत से अधिक कृषि भूमि हो।।
5. यदि समीप ही कोई अन्य विकसित/चयनित जल समेट क्षेत्र, जिसमें पूर्व से ही कोई विकास योजना चलाई गई हो, तो उसका चयन कर करें, परंतु यह आवश्कय नहीं है। यद्यपि क्षेत्र का कोई भाग ऐसा रह जाए, जहां पूर्व चालित योजना का पूर्ण लाभ न मिल पाया हो, लिया जा सकता है।
6. एज जल समेट क्षेत्र का विस्तार सामान्य तौर पर एक गांव की सीमा के भीतर हो होता है, परंतु कुछ क्षेत्र गाँव के बाहर हो, तब भी पड़ोसी ग्राम पंचायत की स्वीकृति लेकर उस क्षेत्र को विकास कार्य हेतु लिया जा सकता है।

जल समेट क्षेत्र विकास योजना

समग्र रूप से जल समेट (जलागम) क्षेत्र का अन्तिम लक्ष्य बेसिन में रहने वाले सामान्य जन के जीवन स्तर में सुधार लाने के लिए उनकी आय बढ़ाने की क्षमता में वृद्धि करना, विद्युत एवं सिंचाई, पीने के पानी की आपूर्ति, पर्यावरण संतुलन बनाए रखते हुए अति–वृष्टि या सूखे के भय से मुक्ति दिलाना होता है। जलग्रहण क्षेत्र के सर्वांगीण विकास के लिए प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग एवं कृषि उत्पादन में वृद्धि एक निश्चित समय सीमा में की जाती है।

विकास योजना बनाते समय ध्यान देने योग्य बातें:-

विकास योजना बनाते समय ध्यान दिया जाए कि चयन की गई भूमि का उपचार उस क्षेत्र की आवश्यकता विशेष के अनुसार एवं उन सभी विधियों का उपयोग करते हुए किया जाए तो मृदा एवं नमी संरक्षण, प्रक्षेत्र आय में वृद्धि करने, वन्य जीवन हेतु अनुकूल एवं कृषि भूमियों को बाढ़ आदि से बचाने वाली हो।

क्षेत्र में बहने वाली प्रमुख जलधारा जैसे– छोटी सहायक नदियों/नालों आदि पर छोटे एवं बहुउद्देशीय भंडार एवं अन्य जलग्रहण ढांचे बनाए जाने का प्रावधान हो, ताकि बाढ़ की तीव्रता एवं बारंबारता को कम किया जा सके।

- घरेलू उपयोग, कृषि एवं उद्योगों हेतु व्यापक जलापूर्ति का प्रावधान।
- कृषि एवं सहायक व्यवसाय जैसे लघु एवं कुटीर उद्योगों को विकसित करने के लिए प्राकृतिक एवं स्थानीय संसाधनों का उपयोग हो ताकि स्थानीय वासियों की सामाजिक एवं आर्थिक दशा में सुधार हो सके।
- रचनात्मक सुविधाओं का व्यापक विस्तार, जैसे– पर्यटन हेतु

प्राकृतिक स्थलों का विकास, जिसमें सरोवर, नदी तट पर नौका चालन, मछली पकड़ने एवं तैरने आदि की सुविधाएं हैं।

यहां यह बात ध्यान रखने योग्य है कि जल ग्रहण क्षेत्र विकास कार्यक्रम की सफलता हेतु उस क्षेत्र में रहने वाले लोगों के व्यक्तिगत एवं सामूहिक दृष्टिकोण का अध्ययन एवं विचार करना चाहिए। समाज में प्रत्येक मनुष्य की अपनी अलग आवश्यकता एवं रीति–रिवाज होते हैं, अतः योजना में अपनाएं जाने वाले उपाय लोगों की आवश्यकता के अनुकूल होने चाहिए। ये कार्यक्रम शासकीय, सामुदायिक निजी एजेन्सियों के नियंत्रण में ग्राम पंचायत जलग्रहण निगम/संघ द्वारा चलाए जाते हैं। इसी प्रकार क्षेत्र की जमीन पर विभिन्न कृषकों का स्वमित्व होता है एवं विभिन्न कारणों से क्षेत्र भूमि विकास सार्वजनिक उपयोग हेतु नहीं हो पाता है। अतएव भूमि सुधार एवं सतही जल के प्रबंधन हेतु आर्थिक आधार पर कृषकों की सहभागिता आवश्यक है।

जल समेट क्षेत्र प्रबंधन का सवाल विभिन्न भू–भागों, जल स्रोतों, वनों एवं मानवीय संसाधनों के अस्तित्व एवं उनकी गुणवत्ता से जुड़ा है। किसी भी तरह की नीति चाहे वह कृषि नीति हो, उद्योग नीति हो, पर्यटन नीति हो, आवास नीति या पंचायती राज में भी सुशासन लाने की नीति हो, शांति एवं कानून व्यवस्था बनाए रखने संबंधी नीति हो, या आपदा प्रबंधन व स्वास्थ्य की नीति हो या मानव संसाधन के प्रबंधन की नीति हो, सब कुछ इस पर निर्भर करता है कि कोई देश अपने सूक्ष्मतम जलागमों को संरक्षित एवं संवर्द्धित करने के लिए क्या करता है।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पर्वतों के स्थाई विकास की रणनीति में यह मान लिया गया है कि पर्वतों का विकास जल समेट क्षेत्र पर आधारित होना चाहिए और इस विकास में आम जनता की भागीदारी विशेषकर महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित की जानी चाहिए ताकि उसके पारंपरिक ज्ञान का लाभ लिया जा सके। हमारे यहां काफी बड़ा भू-भाग आपदा प्रभाव क्षेत्र में है और उसमें क्षरण होते रहते हैं। अतः ऐसी

स्थिति में यहां सतत विकास के लिए परिस्थितियों को ध्यान रखकर नीति निर्धारण किया जाना चाहिए। पर्वतों की निरंतर क्षरणशील प्रकृति के कारण यहां विकास हेतु निरंतर कार्य किए जाने की आवश्यकता है।

आर्थिक विकास के मामलों को अनदेखा करके पर्यावरणीय स्थायित्व के साथ सतत विकास की बात करना अथवा उसके लिए कोई योजना बनाना और फिर उसे कार्यान्वित करना, बहुत मुश्किल काम है, प्राथमिक रूप से यह समझा जाना आवश्यक है।

जल समेट क्षेत्र प्रबंधन एवं विकास में स्वैच्छिक संस्थाओं की भूमिका

जल समेट क्षेत्र प्रबंधन को स्थायित्व देने की रणनीति में स्वैच्छिक संस्थाओं का सहयोग प्राप्त करना तो जरूरी है ही साथ ही यह भी जरूरी है कि प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन के अलावा मानवीय व्यवहार, दृष्टिकोण प्रबंधन, आर्थिक विकास, सामाजिक न्याय व सुरक्षा प्रदान करना भी जलागम प्रबंधन कार्यक्रम का अंग बनें।

जल समेट क्षेत्र संरक्षण किसी योजना में दो–तीन साल में किए जाने वाला काम नहीं है, बल्कि एक सतत् काम है, जिसको समुदाय अथवा संस्थाओं को स्वभाव में सम्मिलित करना होगा।

जब लोग पेयजल की आपूर्ति करना किसी संस्था या संस्थान का ही काम मान लेते हैं तो यह बुनियादी जानकारी भी नहीं लेना चाहते हैं कि यह पानी जिसे कोई संस्था या संस्थान उन्हें दे रही है, कहां से आ रहा है। नलकूप या कुंओं का पानी क्यों सूख जाता है या उसके लिए समुदाय को क्या करना है। यह नहीं सोचा जाता है। यदि कभी पानी की आपूर्ति ऐसी प्रणाली में बंद हो जाती है तो अनुमान लगाया जाता है कि ट्रांसफार्मर जल गया है या बिजली नहीं है या कर्मचारी काम नहीं कर रहे हैं आदि, आदि। पानी की आपूर्ति को आज भी पाइप प्रणाली में जितनी आसानी से बिजली से जोड़ा जाता

है वह उतना जंगल या जल समेट क्षेत्र से नहीं जोड़ा जा रहा है। जल समेट क्षेत्र के विषय में जो कुछ सोच भी जल समेट से दूर रहने वालों में बनी है, वह ज्यादा से ज्यादा आजकल मैदानों में लगातार आने वाले वाली बाढ़ों व उसके नकुसान से बनी है, उसी प्रकार पहाड़ों में भी जल समेट आधारित विकास की जो कुछ जरूरत अनुभव की जा रही है, वह भी लगातार आने वाले भूस्खलनों, भूमि के कटाव आदि से बना है। अतः पेयजन आपूर्ति के क्षेत्र में काम करने वाली संस्थाओं व संस्थानों को जल समेट क्षेत्र के संरक्षण व जल स्रोत की आपूर्ति पर सीधा संबंध दिखाने की भी आवश्यकता है।

किसी भी जल समेट क्षेत्र का संरक्षण कैसे व किन माध्यमों से हो, किस तरह की प्रेरणा देकर हो या किन नियमों से हो, इसके लिए जिस जल समेट क्षेत्र को संरक्षण करना है, उसमें सामुदायिक सहभागिता से पहले ही सर्वेक्षण किया जाना आदर्श रहता है। यदि सामुदायिक सहभागिता प्रारंभ से ही है, गांव के स्थानीय लोगों को साथ लेकर जल समेट क्षेत्र में सर्वेक्षण किया जाता है, तो सर्वेक्षण के दौरान ही स्थानीय निवासी यह जान जाते हैं कि जो उनका जल स्रोत है और जिससे वे अपने लिए पेयजल पा रहे हैं, उसके जल समेट क्षेत्र की स्थिति क्या है और उन स्थितियों के लिए कौन जिम्मेदार है तथा आम जन की उसको ठीक रखने में क्या भूमिका हो सकती है। यदि एक बार सर्वेक्षण के दौरान ही स्थानीय जन ने अनुभव कर लिया कि उनके जल समेट क्षेत्र के संरक्षण के लिए कुछ किया जाना आवश्यक है अन्यथा उनकी उपलब्ध जल की मांग व गुणवत्ता पर असर पड़ेगा, तो बाद के कामों में मदद मिलेगी। स्वैच्छिक संस्थाएं इस प्रसंग के दायित्वों को निभाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं। स्वैच्छिक संस्थाओं को यदि जल समेट क्षेत्र प्रबंधन में काम करना है तो जिस समय किसी जल समेट प्रबंधन के लिए लक्ष्य निर्धारित हो रहे हों या उन संकेतकों को तय किया जा रहा हो जिनसे जल समेट की

स्थितियां देखी जाएगी उस समय ही स्वैच्छिक संस्थाओं को परियोजना निर्माण में शामिल करना होगा।

जब हम किसी भी जल समेट क्षेत्र में स्थाई विकास के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रबंधन की बात करते हैं, तो देखना यह चाहिए कि वहां जो गतिविधियां हो रही हैं और जिन पर वहां के लोगों का विकास व जीवन को गुणवत्ता से जीने की स्थितियां निर्भर करती हैं, वे भी स्थाई विकास के लक्ष्य को ही पुष्ट करें। अतः उस जल समेट क्षेत्र के लोगों के लिए जीवन यापन और जीविकोपार्जन के मुद्दे महत्वपूर्ण हो जाते हैं। वे जल समेट क्षेत्र ऐसे होने चाहिए कि उनसे पर्यावरण पर पड़ने वाला भार इतना न पड़े के संसाधन पुनर्जीवित न हो सकें या निरंतर गिरावट की ओर बढ़ें। पर्यावरण सम्मत व स्थाई विकास के अनुरूप जीवनयापन के विकल्पों के लिए जन चेतना, जन सम्मान, जन क्षमता व जन स्वीकृति को विकसित करने में स्वैच्छिक संस्थाएं महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं।

किसी भी जल समेट क्षेत्र प्रबंधन के कार्यक्रम में स्वैच्छिक संस्थाओं की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका यह सुनिश्चित करने में होनी चाहिए कि जब कोई जल समेट परियोजना खत्म हो जाए या स्वैच्छिक संस्थाएं उस क्षेत्र से चली जाएं तब भी जल समेट क्षेत्र के निवासियों के पास रहे। साथ ही उनकी वह इच्छा शक्ति भी बनी रहे कि वे जल समेट विकास का काम करते हैं। यह एक मुश्किल काम है क्योंकि न तो सदैव जल समेट क्षेत्र की स्थिति एक–सी रहती है और न ही वहां के लोगों के पास उत्प्रेरण व कारण एक से ही बने रहते हैं। अतः बेहतर तो यही होगा कि स्वैच्छिक संस्थाओं को जल समेट परियोजनाओं में कार्यान्वयन करने वाली संस्था की भूमिका निभानी चाहिए और ग्राम पंचायतों और ग्राम सभाओं में नागरिक समूहों को सशक्त करके परियोजना कार्यों को उन्हें ही कार्यान्वित करने देना चाहिए। इससे स्वैच्छिक संस्थाएं उन आरोपों से भी बच सकती है, जो यदा–कदा उन पर लग जाते हैं। वे तब उन आरोपों

से भी बच सकेंगी कि वे गांव में किसी खास समूह या समूहों को ही आगे ला रही है। भागीदारी बनने के लिए विवाद निस्तारण के काम का व परामर्शक दायित्व स्वैच्छिक संस्थाओं को ही लेना चाहिए।

जल समेट क्षेत्र प्रबंधन एवं विकास में पंचायतों की भूमिका

पंचायतों से बढ़कर और उसमें भी ग्राम सभाओं से अच्छा जनप्रतिनिधित्व करने वाली तृणमूल आधार की कोई इकाई नहीं हो सकती है। अतः सरकार को अपनी नीतियों व प्रणाली में खास प्रावधान यह करना चाहिए कि कोई भी ग्राम सभा व उससे जुड़े क्षेत्र की ग्रामसभाएँ अपने जलागम क्षेत्र की स्थितियों को देखते हुए यदि कोई जल समेट प्रबंधन की परियोजना बनाती हैं, तो उसको प्राथमिकता देते हुए उन्हें वित्त व तकनीकी सहायता प्राप्त करने में मदद देनी चाहिए व उसे संवैधानिकता प्रदान करनी चाहिए। ऐसे में अनुभव युक्त स्वैच्छिक संस्थानों अथवा सरकार, खुद जनता से सहायोग मांगेगी। सरकार को ऐसी स्थिति में अपने कृषि, भूसंरक्षण, पशुधन, वन संरक्षण, जल विज्ञान आदि के कार्यकर्ताओं को जनता द्वारा संचालित प्रबंधन परियोजना के लिए सौंपना चाहिए।

जल समेट प्रबंधन परियोजना व ग्राम विकास की रणनीति में यह शामिल होना चाहिए। यह निश्चित रूप से एक क्रांतिकारी कदम होगा कि जनता द्वारा शुरू की गई जल समेट क्षेत्र प्रबंधन की किसी योजना में सहयोग करे।

प्रक्षेत्र जलाशय

मृदा संरक्षणात्मक उपायों के अंतर्गत प्रक्षेत्र जलाशय का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। प्रक्षेत्र जलाशय ऐसे स्थान बनाए जाने चाहिए जहां से जल के अधिकाधिक प्रभावपूर्ण उपयोग के लिए कम से कम लिफ्टों एवं पाइपलाइनों का प्रयोग करना पड़े।

जलाशय स्थान की स्थलाकृति इस प्रकार होनी चाहिए कि

सामान्य जल–स्तर पर जल–क्षेत्र के 15 से 20 प्रतिशत भाग पर अवरुद्घ जल की गहराई कम से कम 2.5 मीटर से 3.0 मीटर तक प्राप्त हो सके। रोक बन्ध के ऊपर नाली की ढाल प्रवणता, 4 से 8 प्रतिशत होनी चाहिए। बाढ़ नियंत्रण जलाशय उस स्थान पर स्थित किया जाना चाहिए, जहां भण्डारित जल द्वारा आप्लावन के फलस्वरूप, क्षति कम से कम हो तथा कम से कम खर्च पर अधिकतम भंडार क्षमता की जा सके।

जलाशय की भंडारण क्षमता का अभिकल्प करते समय, वाष्पीकरण और प्रस्राव द्वारा होने वाली जलहानि के नियंत्रण पर विशेष ध्यान देना चाहिए। वाष्पीकरण को तो, मौसम अभिलेखों की सहायता से ज्ञात किया जा सकता है, परंतु प्रस्राव का सही सही पूर्व कथन करना संभव नहीं है। फिर भी एक अनुभवी कार्यकर्ता इसका एक स्थल अनुमान तो लगा ही सकता है।

जहां, तक संभव हो सके, जलाशय की स्थिति जल प्रयोग-स्थान के निकट की रखी जानी चाहिए। दूरस्थ जलाशयों से, पंपों द्वारा, जल का उत्थापन व्यावहारिक दृष्टि से उचित नहीं है, क्योंकि वह बहुत मंहगा पड़ सकता है। अतः जलाशय, जल प्रयोग स्थान से, कुछ अधिक ऊंचाई पर स्थित किया जाना चाहिए, ताकि जल बहाव में गुरुत्वाकर्षण का लाभ मिल सके।

यह व्यावहारिक दृष्टि से संभव नहीं है कि, जलाशय की स्थिति संबंधी उपयुक्त सभी दशाएं किसी एक स्थान पर सुलभ हो सकें। अतः जहां तक हो सके, उपयुक्त दशाओं को उपलब्ध करने का प्रयास किया जाना चाहिए।

जलाशयों के प्रकार

निर्माण विधियों के आधार पर, जलाशयों को निम्नलिखित मुख्य प्रकारों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

क. उत्खनित जलाशय

ख. पृष्ठ जलाशय

ग. स्रोत संभरित या निवेषिका संभरित जलाशय

घ. उप–निकास जलाशय।

क. उत्खनित जलाशयः

इस प्रकार के जलाशयों का निर्माण भूमि पर खुदाई करके किया जाता है। ये उन स्थानों पर निर्मित किए जाते हैं, जहां भूमि ढाल की प्रवणता 4 प्रतिशत से कम तथा भूमि में जलस्तर 0.75 मीटर से 1.25 मीटर के मध्य रहता है। उत्खनित जलाशयों का अभिकल्पन, आवश्यक भंडारण क्षमता, जल स्तर की गहराई और निर्माण सामग्री की सुदृढ़ता स्थिरता पर निर्भर है।

ख. पृष्ठ जलाशय

इसका निर्माण उत्खनित जलाशयों के विपरीत, किसी खड्ड या नाले में बांध बनाकर किया जाता है। इस प्रकार के जलाशयों की स्थिरता एवं धारिता, पृष्ठ अपवाह जल की संपूर्ति पर निर्भर है। इनकी अभिकल्प भंडारण क्षमता, जल प्रयोग की आवश्कता और अपवाह जल की विश्वसनीय आपूर्ति की संभाव्यता पर निर्भर है।

ग. स्रोत संभरित या निवेषिका संभरित जलाशय

इस प्रकार के जलाशय में, किसी जलस्रोत के नीचे एक उत्खनित द्रोणी बना ली जाती है, या जलस्रोत के नीचे स्थित किसी गर्त अथवा घाटी की आड़ी दिशा में, एक रोकबंध निर्मित कर दिया जाता है। ऐसे जलाशय इस प्रकार अभिकल्पित किए जाते हैं कि, इनमें जल का स्तर, स्रोत का निर्गम से नीचे रहता है। इससे लाभ यह होता है कि, जलाशय–जल स्तर बढ़ने के कारण, स्रोत बहाव को अन्यत्र विपथित करने की समस्या कम हो जाती है। जब स्रोत में जल बहाव, जल प्रयोग आवश्यकता के अनुरूप होता है तो पृष्ठ जल को जलाशय से अन्यत्र, विपथित कर दिया जाना चाहिए। इससे अवसादन को कम करने के साथ–साथ उत्प्लव मार्ग की आवश्यकता को भी कम किया जा सकता है।

घ. उपनिकास जलाशय

ऐसे जलाशय, स्थायी रूप से बहने वाली सरिता अथवा जल स्रोतों के समीप ही निर्मित किए जाते हैं। जलाशय में जल का अंतर्ग्रहण करके, अवसादन को कम किया जा सकता है।

जलाशय निर्माण की आवश्कताएं

जलाशयों की अधिकतम प्रभावी क्षमता प्राप्त करने के लिए, निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं :

1. निर्माण में मितव्ययिता।
2. समुचित एवं प्रदूषण रहित जल की पूर्ति
3. अभेद्य निर्माण सामग्री की उपलब्धता
4. समुचित क्षमता वाले यांत्रिक एवं आपात उत्प्लव मार्गों की व्यवस्था।
5. अनुरक्षण एवं मत्स्य पालन हेतु जल निकास की समुचित व्यवस्था
6. रोक बंधों की सुरक्षा की व्यवस्था
7. अभिकल्पन एवं निर्माण तकनीकी की सुलभता।

जलाशय की भंडारण क्षमता

जलाशय की भंडारण क्षमता, निम्नलिखित बातों पर निर्भर है– (क.) जल की आवश्यकता, (ख.) जल पृष्ठ से वाष्पीकरण, (ग.) भूमि और रोकबंधों में जल प्रस्राव, (घ.) अवसादन की दर और मात्रा (ङ) जलाशय में आवश्यक न्यूनतम भंडारण।

न्यूनतम भंडारण क्षमता, संपूर्ण वार्षिक आवश्यकताओं में 40 से 60 प्रतिशत की वृद्धि करके, (प्रस्राव, वाष्पीकरण, आदि से होने वाली हानियों की पूर्ति के लिए), निर्धारित की जाती है।

बन्धों की अभिकल्पन

बन्धों का अभिकल्पन, नींव पदार्थ की स्थिरता व दृढ़ता तथा अभेद्य स्तर (जो भेद्य नींव में अधिक उपयुक्त होता है) की स्थिति को ध्यान में रखकर किया जाता है। रोकबंध कई प्रकार के हो सकते हैं जिसमें मध्य छेद या डायफ्राम रोकबंध अधिक उपयुक्त हैं। इनमें कंक्रीट, स्टील या लकड़ी का एक अवरोध भराव से होने वाले प्रस्राव को रोकने के लिए प्रयोग किया जाता है।

रोकबंधों के अभिकल्पन में बंध का अनुप्रस्थ काट क्षेत्रफल, मुख्य रूप से विचारणीय होता है।

❑❑❑

अध्याय 8

मृदा संरक्षण प्रबंधन

मृदा संरक्षण प्रबंधन के अन्तर्गत मृदा का उपयोग उसकी प्रयोगशक्यता के अनुसार किया जाता है। यद्यपि यह सही है कि सघन खेती द्वारा अधिक उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है परंतु इस तरह भूमि का अधिक समय तक उत्पादनशील एवं सुरक्षित बने रहने का आश्वासन प्राप्त नहीं हो सकता, परंतु संरक्षण सिद्धांत पर आधारित खेती द्वारा भूमि को लम्बी अवधि तक उत्पादनशील एवं सुरक्षित रखा जा सकता है।

प्रायः यह देखा गया है कि अनुचित भूमि उपयोग नियोजन एवं भूमि अपरदन के कारण कृषि योग्य भूमियों की उपलब्धता कम होती जा रही है। त्रुटिपूर्ण कृषि प्रणालियों के अपनाए जाने से भी भूमि का अपरदन अधिक हो रहा है। कृषकगण प्रायः ढाल, वर्षा और मृदा के प्रकार आदि बुनियादी कारकों पर ध्यान दिए बिना किसी भी उपलब्ध भूमि पर फसल बो देते हैं। यदि कृषि कार्यक्रम को उचित ढंग से नियोजित किया जाए, तो मृदा क्षतियों को सरलता से नियंत्रित किया जा सकता है। इस प्रकार का नियोजन मृदाओं, वर्षा अपरदन, स्थलाकृति, समबंद्ध क्षेत्र से फसलोत्पादन की पद्धति तथा इसी प्रकार के अन्य स्थानीय कारकों पर सुलभ मूलभूत आंकड़ों के आधार

पर किया जाना चाहिए। मृदा सरंक्षण एवं प्रबंधन के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि भूमि की प्रत्येक इकाई का उपयोग उसकी सामर्थ्य और उसकी सीमा को ध्यान में रखकर किया जाए। भूमि की सामर्थ्य एवं सीमा को ध्यान में रखकर बनाए गए इन आठ वर्गों में वर्ग एक, दो, तीन, चार का उपयोग खेती के लिए किया जा सकता है, परंतु सघनता निरंतर घटती जाएगी। वर्ग पांच सें सात तक की भूमि उद्यानों तथा पशुचरण के लिए व्यवहृत की जा सकती है परंतु पांच से सात तक निंरतर उसके उपयोग की सघनता में कमी आएगी। वर्ग सात की भूमि वन लगाने के काम आ सकती है परंतु वर्ग आठ का उपयोग मात्र मनोरजंन स्थलों, अभ्यारणों के निर्माण में हो सकता हैं।

मृदा की स्थलाकृति, भौतिक एवं रासायनिक गुण तथा उत्पादकता में विभिन्नता पाई जाती है। कुछ मृदाएं खेती के लिए सर्वथा उपयुक्त होती हैं तो कुछ सर्वथा अनुपयुक्त। कुछ मृदाएं ऐसी होती हैं जिनमें क्षरण आदि समस्याएं पाई जाती हैं, जिनमें निवारण के उपरांत फसलें उगाई जाती हैं। इसके विपरीत कुछ मृदाओं की समस्याएं इस सीमा तक विषम होती हैं कि अनेक संरक्षण उपायों के प्रयोग बाद भी फसलें नहीं ली जा सकती और उनकी स्थायी रूप से चरागाह अथवा वन प्रबंध के अंतर्गत रखना पड़ता है।

मृदा में किए जाने वाले भू–परिष्करण की क्रियाएं तथा अपनाई जाने वाली संरक्षण प्राणालियां, समोच्च खेती, वेदिका खेती, पट्टिका खेती, मेड़बंदी आदि संरक्षण विधियों को अपनाकर मृदा क्षरण को काफी हद तक नियंत्रित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त फसल प्रबंधन की संरक्षण विधियों जैसे–संरक्षण सस्यावर्तन, निकटवर्ती फसलोत्पादन, आवरण–सस्याआदि को अपनाकर मृदा की क्षरणीयता को कम किया जा सकता हैं।

मृदा उर्वरता में सुधार होने पर फसलों की वृद्वि अधिक होती है जिसके परिणामस्वरूप मृदा को एक उत्तम प्रकार का रक्षात्मक

आवरण प्राप्त होता है। खादों एवं उर्वरकों के प्रयोग से मृदा की भौतिक, रासायनिक तथा जैविक गुणों में सुधार लाकर मृदा अपरदन को नियंत्रित किया जा सकता है।

मृदा में विद्यमान जैव पदार्थ का प्रभाव मृदा के संरचनात्मक समुच्चयों के विकास और स्थिरता पर पड़ता है। इसके अतिरिक्त मृदा पृष्ठ पर अविघटित जैव पदाथ्र का एकत्रीकरण मृदा पृष्ठ के लिए एक मोटे आवरण का कार्य कर सकता है, जो वर्षा की बूंदों की संघाती क्रिया द्वारा पृष्ठ कणों को टूटने से बचा सकता है। मृदा में जैव पदार्थ की उपस्थिति पर्याप्त मात्रा में होने पर मृदा की जलधारण क्षमता अधिक होती है, जो पृष्ठ्ठ अपवाह की समस्या को कम करने में सहायक सिद्ध हो सकती है।

मृदा पर उसकी प्रयोगशक्यता के अनुसार खेती करने की विधि को संरक्षण खेती कहते हैं। संरक्षण खेती परंपरागत खेती से इस अर्थ में भिन्न है कि इसमें खेती की विधि के साथ–साथ वांछित संरक्षण उपचारों का भी प्रयोग किया जाता है। वास्तव में मृदा सरंक्षण की परिभाषा की अर्थवत्ता संरक्षण खेती की विधि में ही व्याप्त है जो मृदा को दीर्घकाल तक उत्पादनशील बनाए रखने का आश्वासन प्रदान करती हैं। संरक्षण खेती के अंतर्गत उन्नत कृषि प्रणालियां, उन्नत बीज व खाद प्रयोग, सिंचाई व पादप सुरक्षा से लेकर मृदा की भौतिक, रासायनिक तथा जैविक दशाओं में सुधार तथा मृदा की हानि का अनुमेय सीमा के भीतर नियंत्रण तक अपनाई जाने वाली सभी विधियां सम्मिलित हैं।

निःसंदेह फसलोत्पादन जीवन रक्षा का एक अनिवार्य साधन है। अतः फसलोत्पादन द्वारा मृदा की उत्पादकता एवं उर्वरता के ह्रास को रोका नहीं जा सकता, बल्कि बढ़ती हुई जनंसख्या की भुखमरी से बचाने के लिए अधिकाधिक मात्रा में खाद्यान्नों का उत्पादन एक अनिवार्य आवश्यकता बन चुकी है। वनों के अपर्याप्त आनुपातिक क्षेत्रफल को देखते हुए उनकी फसलोत्पादन हेतु कटाई संस्तुत नहीं

की जा सकती। अतः यह नितात आवश्यक हो जाता है कि क्षरण द्वारा होने वाली उत्पादकता ह्रास को अधिकाधिक मात्रा में रोका जाए।

जलीय अपरदन प्रबंधन

जलीय अपरदन प्रबंधन में तीन प्रकार के उपाय सम्मिलित हैं:–

अ. सस्य विज्ञान पर आधारित उपाय

ब. अभियांत्रिकी पर आधारित उपाय

स. वानिकी पर आधारित उपाय

अ. सस्य विज्ञान पर आधारित उपाय

मृदा को जल अपरदन से बचाने एवं उसकी उत्पादकता को सुरक्षित रखने में सस्य विज्ञान पर आधारित उपायों का अत्यधिक महत्व है। इनसे अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए इनका नियोजन स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रखकर करना चाहिए। उपाय चाहे जो भी हों, किंतु उन्हें खाद और फसल चक्र से संबंधित प्रयोगों पर आधारित होना चाहिए जिससे कि ये अधिक प्रभावशाली बन सके।

क. समोच्च कृषि

समोच्च कृषि से अभिप्राय उन समस्त भूपरिष्करण संबंधी क्रियाओं से है जो कृषि भूमि, चारागाह भूमि या अन्य वर्गों की भूमियों में ढाल की आड़ी दिश में, समोच्च रेखाओं पर की जाती हैं। समोच्च रेखाएं भूमि–पृष्ठ पर समान ऊंचाइयों को मिलाने वाली रेखाएं हैं।

ढाल के आड़े, तिरछे समोच्च रखाओं (अपवाह जल के साथ समकोण बनाने वाली रखाओं) पर किया जाने वाला कोई भी कृषि कार्य समोच्च कृषि कहलाता हैं।

कम वर्षा वाले क्षेत्रों में इन कृषि कार्यों का लक्ष्य होता है – वर्षा जल का संरक्षण, आर्द्र क्षेत्रों में जलीय क्षरण का नियंत्रण एवं जल का संरक्षण।

समोच्च कृषि के द्वारा अपवाह जल को बहुत देर तक एक ही स्थान पर रोके रहना संभव है, जिसके परिणामस्वरूप अपवाह जल की गति समाप्त हो जाने से मिट्टी का विपेक्षण और स्थानांतरण कम हो जाता है एवं अपवाह जल की बड़ी मात्रा का मिट्टी में अंतःस्पंदन हो जाता है। उन मिट्टियों में, जिनकी पारगम्यता अधिक है, समोच्च कृषि अत्यधिक लाभदायक होती है। परंतु कम पारगम्यतावाली मृदा में इसका प्रभाव बहुत कम होता है, क्योंकि बहुत कम जल अन्तः स्पांदित हो जाता है और अधिकतर जल बहकर निकल जाता है। समोच्च कृषि के कारण अपवाह जल संचित होता है तथा उसके निकल जाने के लिए परोक्ष राहें निकल आती हैं।

इस प्रकार शुष्क तथा नम दोनों ही प्रकार की जलवायु वाले क्षेत्रों के लिए समोच्च कृषि अत्यंत उपयोगी सिद्ध होती हैं। कम वर्षा क्षेत्रों में समोच्च कृषि, भूमि में जल के संरक्षण व समुचित वितरण में सहायक होती है। अधिक वर्षा–क्षेत्रों में इसके द्वारा, अपवाह जल को अवरुद्ध करके, भूमि में जल प्रवेश को बढ़ाया जा सकता है ताकि क्षरण द्वारा मृदा हानि को रोका जा सकता है।

इसके अतिरिक्त, समोच्च कृषि से शक्ति एवं श्रम की बचत की जा सकती है। अनुसंधानों द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि परंपरागत विधि की अपेक्षा 12.8 प्रतिशत समय कम लगता है तथा ईंधन उपयोग–क्षमता भी अपेक्षाकृत 9.4 प्रतिशत बढ़ जाती है।

समोच्च कृषि के प्रकार

विभिन्न क्षेत्रीय दशाओं के अनुसार समोच्च कृषि कई प्रकार से की जाती है, जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं :–

1. *क्षेत्र समोच्च कृषि*
2. *उद्यान समोच्च कृषि*
3. *चरागहा समोच्च कृषि*
4. *बाढ़ नियंत्रण समोच्च कृषि।*

1. क्षेत्र समोच्च कृषि

समोच्च कृषि प्रायः वेदिका कृषि और पट्टिका खेती के साथ संयुक्त रूप से अपनाई जाती है। वैसे कम ढाल वाली भूमियों में अकेले समोच्च कृषि ही, क्षरण नियंत्रण में सक्षम हो सकती है। शुष्क क्षेत्रों में समोच्च कृषि का मुख्य उद्देश्य जल संरक्षण होता है। इस विधि में, भुपरिष्करण की क्रियाएं मेड़कारी यंत्र जैसे रिज या लिस्टर द्वारा की जाती है। भूमि में निश्चित अंतरों पर मेंड़े और कूड़ बना ली जाती हैं। कूड़ों में वर्षा जल अवरुद्ध होकर, भूमि में अवशोषित होता है। कूंड़ की औसत गहराई 15 सेमी रखी जाती है। ऐसे देशों में जहां फसलोत्पादन के लिए जल एक प्रमुख सीमाकारक बन जाता है तथा अधिकांश वर्षा की प्रचण्डता ऐसी होती है कि शीघ्र अपवाह उत्पन्न हो जाता है, समोच्च कूड़ बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती है, मिट्टी पलट हल की अपेक्षा, देशी हल या कल्टीवेटर का प्रयोग क्षेत्र समोच्च कृषि में अधिक उपयुक्त होता है, क्योंकि मिट्टी पलट हल, अपेक्षाकृत चिकना पृष्ठ बना देता है, जो अपवाह जल के बहाव में कम प्रतिरोध दे पाता है, जबकि देशी हल या कल्टीवेटर द्वारा, उथली कूड़ों का एक अधिक रूक्ष पृष्ठ तैयार हो जाता है, जो जल संग्रह एवं जल–वितरण की दृष्टि से, अधिक प्रभावकारी होता है।

2. उद्यान समोच्च कृषि

उद्यानों में समोच्च कृषि का प्रयोग, क्षरण नियंत्रण एवं वर्षा जल के सरंक्षण के लिए किया जाता है। यदि उद्यान की चौड़ाई 30 सेमी से कम है, ढाल प्रवणता 5 प्रतिशत से अधिक नहीं है, तथा भूमि की भौतिक दशा इस प्रकार की है कि किसी अपारगम्य मृत्तिका के ऊपर शीर्ष–मृदा की गहराई बहुत कम है, या 8 से 10 प्रतिशत रेतीली दोमट है, तो समोच्च कृषि सफलतापूर्वक की जा सकती हैं।

3. चरागह समोच्च कृषि

आजकल चरागह कृषि क्षेत्रों में भी समोच्च कृषि का प्रचलन बढ़

रहा है। पहले चरागहों में जल संरक्षण तथा क्षरण नियंत्रण के लिए वेदिकाओं का प्रयोग किया जाता था किंतु यह देखा गया कि 5 से 25 प्रतिशत अथवा इससे अधिक ढाल वालें चरागाहों से वेदिकाओं के प्रयोग से जल का वितरण भली प्रकार से नहीं हो सकता था। अतः उनको अधिक सटा–सटा कर विन्यस्त करना पड़ता था, तो अन्ततः समोच्च कूड़ का ही रूप ले लेती थी। नए चरागाहों तथा खड़े ढालों पर समोच्च कूड़ों और मेड़ों का प्रयोग उपयोगी सिद्ध होता है।

4. बाढ़ नियन्त्रण समोच्च कृषि

समोच्च कूड़े, वर्षा जल की अवरूद्ध तथा संग्रह करने का कार्य करती हैं, अतः छोटे–छोटे वाह क्षेत्रों में, स्थानीय बाढ़ को नियंत्रित करने में, ये किसी हद तक सहायक सिद्ध हो सकती हैं। समोच्च कृषि उन भूमियों में सर्वाधिक सन्तोषजनक परिणाम दे सकती है, जिनमें ढाल एक या दो दिशाओं में लगभग एक समान होता है। परंतु अनियमित स्थलाकृति एवं अधिक विषम तथा अनियमित ढाल दशाओं में समोच्च कृषि अपनाने पर कुछ व्यावहारिक कठिनाइयां आ जाती हैं। समोच्च कृषि के साथ घासदार जल–मार्गो, जल निकास नालियों तथा खड्डों में घासों का अच्छा आवरण स्थापित करना आवश्यक होता हैं।

ख.पट्टिका खेती

पट्टिका खेती में सामान्य फसलें ढाल के आड़े तिरछे संकरी पट्टियों में इस ढंग से लगाई जाती हैं कि क्षरण रोधी फसलें क्षरण फसलों की पट्टियों से अलग हों और उसके बाद आए। 15 प्रतिशत से कम ढाल वाली भूमि में पट्टिका खेती की जा सकती है। पट्टिका खेती भूमि संरक्षण की वह कार्य प्रणाली है जिसके अंतर्गत निकटवर्धी फसलों और अन्तःकर्षित फसलों को समान्य भूमि ढाल के अविलंब विन्यस्त पट्टियों में, एक सुनियोजित सस्यावर्ती क्रम में एकांतरित करके उगाते हैं।

फसलों का निकटवर्धी और अंतःकर्षित वर्गों में विभाजन, फसलोत्पादन की दृष्टि से किया जाता है। एक ही फसल उगाने की विधि के अनुसार निकटवर्धी, अथवा अंतःकर्षित किसी रूप में हो सकती है। निकटवर्धी एवं अंतःकर्षित फसलों को क्रमशः क्षरणरोधी फसलों एवं क्षरण अनुमोदी फसलों के रुपों में भी वर्गीकृत किया जाता है। परंतु यह वर्गीकरण दोषपूर्ण है, क्योंकि क्षरण नियंत्रण की दृष्टि से भूमि पृष्ठ पर विद्यमान एक छोटे से छोटा तृण भी क्षरण प्रक्रिया में किसी न किसी सीमा तक व्यवधान अवश्य उपस्थित करता है। अतः किसी फसल या वनस्पति को क्षरण अनुमोदी नहीं कहा जा सकता। यह बात अलग है कि फसलों की प्रकृति एवं उगाने की विधि के अनुसार उनकी क्षरण नियंत्रण क्षमता भिन्न–भिन्न हो सकती है। वास्तव में सभी फसलें क्षरणरोधी होती हैं।

किसी भू–भाग के वर्षा संबंधी लक्षणों का अध्ययन करके अपरदन के उस क्रांतिक काल का पता लगाया जा सकता है, जब कि मृदा को संरक्षी–आवरण की आवश्यकता होती है। इसके लिए, कई वर्षों के वर्षा संबंधी आंकड़ों का अध्ययन करना आवश्यक है।

मृदा क्षरण के क्रांतिक काल को सुरक्षित कर सकने वाली फसल को चुनने के लिए तथा मृदा पर वर्षा की सीधी बौछार को पड़ने से रोकने में सहायक बना आवरण प्रदान करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को विभिन्न फसलों के जीवन काल और आवरण विकास से संबंध में जान लेना चाहिए। फलीदार फसलों की बोआई के लिए प्रयुक्त सामान्य बीज दर से ऐसा बना आवरण नहीं बन पाता है जो वर्षा की बूंदों को सीधा मृदा की सतह पर पड़ने से रोक सके। पट्टियों का विभाजन करने से पूर्व, इन क्षरणरोधी फसलों की बीज दर और अंतकाल के विषय में अध्ययन करना होता है।

पट्टिका खेती के प्रकार

पट्टिका खेती चार प्रकार की प्रचलित हैं:–

1. *समोच्च पट्टिका खेती*
2. *क्षेत्रीय पट्टिका खेती*
3. *पवनीय पट्टिका खेती*
4. *अंतस्थ पट्टिका खेती*

1. *समोच्च पट्टीदार खेती*

इस प्रकार में समोच्च रेखाओं पर बनाई गई पट्टियों में पट्टिका–कारी फसलों के बाद क्षरणरोधी फसलें लगाई जाती हैं। इस ढंग की खेती से ढाल की प्रवणता घटती है, अपवाह जल को रूकने औार अंतः क्षरण होने का मौका मिलता है तथा कम क्षरण होता है। यह ध्यान देने की बात है कि पट्टियाँ निश्चित रूप से समोच्च रेखाओं पर हों। वैसे समोच्च रेखाओं से 3 प्रतिशत अलग रखने से अपवाह जल का निकास अधिक अच्छी तरह होता है।

पट्टियों की चौड़ाई 5 मीटर से 50 मीटर तक, ढाल के आधार पर होती है। ढाल को ध्यान में रखते हुए पट्टियों की संस्तुत चौड़ाई सारणी 8.1 में दी गई है।

प्रवाहयुक्त पानी के वेग को अधिक प्रभावशाली ढंग से कम करने के लिए प्रत्येक भू–भाग पर समोच्च पट्टीदार खेती की पद्धति अपनाई जा सकती है। इस पद्धति में क्षरण होने देने वाली (घास–पात रहित पंक्तिओं में बोई जाने वाली फसलें) तथा क्षरणरोधी (घनी बोई जाने वाली फसलें) फसलों को समोच्च रखाओं पर पंक्तिओं के एकांतर क्रम में बोया जाता है। यह प्रणाली अपवाह जल के वेग को कम कर देती है और सिल्ट क्षरणरोधी फसल पट्टियों में एकत्रित हो जाता हें सघन वितान के कारण मृदा की सतह पर वर्षा की सीधी बौछार नहीं पड़ती।

समोच्च पट्टिका खेती की उपयुक्त तकनीक का विकास करते समय निम्न तीन महत्वपूर्ण कारकों को ध्यान में रखना चाहिए :

1. भू–भाग के वर्षा संबंधी लक्षण

2. क्षरणरोधी फसलों का जीवन काल

3. क्षरणरोधी फसलों का वितान विषयक विकास।

सारणी 8.1 : विभिन्न ढालवाली भूमि में पट्टियों की चौड़ाई

ढाल प्रतिशत में	क्षरणकारी फसलों की पट्टी की चौड़ाई (मीटर)	क्षरणरोधी फसलों की पट्टी की चौड़ाई (मीटर)
1 प्रतिशत से कम	50.0	10.0
1–2 प्रतिशत	26.0	6.5
2–3 प्रतिशत	15.0	5.0

पट्टिका खेती में यह सावधानी बरतनी चाहिए कि वर्षा के जितनी प्रबल होने की संभावना हो, ढाल जितनी प्रवण हो एवं मृदा जितनी क्षरणीय हो, पट्टियों की चौड़ाई उतनी ही घटती जाएगी। यह बात भी ध्यान रखने की है कि पट्टियों की चौड़ाई इतनी कम न रहे कि कोई भी कृषि कार्य असंभव हो जाए।

पट्टिका खेती में जितनी आसानी से एवं लाभकारी ढंग से फसल–चक्र का व्यवहार किया जा सकता है, उतना अन्यत्र नहीं। सामान्यतः एक समान आवश्यकताओं वाली (एक साथ बोई एवं काटी जाने वाली फसलें तथा एक ही वर्ग की) फसलों की खेती साथ–साथ वाली पट्टियों में कमी नहीं करनी चाहिए और एक ही पट्टी में एक फसल के कटने के बाद फिर वैसी ही फसल तो कभी नहीं लगानी चाहिए। धान्य फसलों के बाद (जिन्हें हम क्षरणकारी फसलों के रूप में रख सकते हैं) घासें या दलहनी क्षरणरोधी फसलें लगाई जानी चाहिए।

प्रयोगों से यह ज्ञात हुआ है कि मूंगफली, मूंग एवं कुल्थी बहुत

ही उत्तम क्षरणरोधी फसलें है। जब भी दलहनी फसलें लगाई जाए, उनकी बीज की मात्रा करीब तीन गुना बढ़ा देनी चाहिए, नहीं तो पूर्ण वानस्पतिक छतरी नहीं मिल पाती।

क्षरणकारी फसलों की सर्वाधिक लाभकारी चौड़ाई 24 मीटर एवं क्षरणरोधी फसलों की चौड़ाई 8 मीटर पायी गई है।

2. क्षेत्रीय पट्टीदार खेती

इस ढंग की खेती में समोच्च रेखाओं की परवाह किए बिना पट्टियों को ढाल के आड़े तिरछे समानांतर दूरी पर रखते हैं। इस ढंग की खेती वहीं लाभकारी है, जहां ढाल पूर्णतः एक समान हो।

3. पवनीय पट्टीदार खेती

इस ढंग की खेती में पट्टियां लंबाई में उस दिशा में फैली होती हैं, जिसके आड़े-तिरछे साल भर तेज हवाएं चला करती हैं। अभिप्राय यह कि अगर किसी इलाके में सदा पश्चिमी दिशा में हवा चलती हो, तो पट्टियां लंबाई में उत्तर दक्षिण दिशा में फैली रहेंगी, वाहे समोच्च रेखाओं की दिशा कोई भी हो। पवनीय पट्टीदार खेती उन्हीं इलाकों में की जाती है, जहां पवनीय अपरदन की समस्या होती है एवं जहां ढाल अधिक प्रवण नहीं होती। पट्टियों में ज्वार, बाजरा एवं मक्का जैसी ऊंची फसलों की बगल की दूसरी पट्टियों में घास एवं दलहनी फसलें लगाते हैं।

4. अंतस्थ पट्टीदार खेती

इस पद्धति में स्थाई या अस्थाई अंतस्थ पट्टियां बहुत ही प्रवण ढाल वाले भाग में या बहुत अधिक क्षरित क्षेत्र में रखी जाती हैं जबकि खेत का पूरा भाग समोच्च पट्टिका खेती के अंतर्गत रहता है। अंतस्थ पट्टियों में लगी फसलें खेत के सस्य चक्र का भाग नहीं होती और इनमें सामान्यतः वृक्ष, दलहनी फसलें या घासें स्थाई या अस्थाई ढंग पर लगी होती हैं।

पलवार (मल्च) बनाना :

भूमि की सतह पर किया गया कोई कार्य या किसी सामग्री का व्यवहार, जिससे वाष्पीकरण रुके एवं खरपतवार कम हों, पलवार (मल्व) बनाना कहा जाता हैं।

फसल कटने के बाद जड़ एवं तने के कुछ भाग को खेत में छोड़ देने से अंत–स्पंदन सामर्थ्य बढ़ती है, अपवाह जल की मात्रा घटती हैं एवं मृदा अपरदन रुकता है।

पलवार (मल्च) के प्रभाव

मल्च बनाने से होने वाले प्रभावों को भौतिक, रासायनिक एवं जैविक प्रभावों में वर्गीकृत कर सकते हैं।

भौतिक प्रभाव

1. वर्षा की बूंदों का प्रत्यक्ष संघाती प्रभाव घटता है।
2. मृदा क्षरण में कमी आती है।
3. पृष्ठीय मृदा का कम विक्षेपण होता है
4. मृदा तापमान नियंत्रित रहता है।
5. मिट्टी में वाष्पदाबी प्रवणता घटती है।
6. अधिक कणिकायन के कारण श्रेष्ठ संरचना का निर्माण होता है।
7. सरंध्र एवं जलधारक सामर्थ्य बढ़ती है।
8. अंतः स्पंदन सामर्थ्य में वृद्धि होती हैं।
9. अपवाह जल एवं तेज हवा को अधिक रुकावट मिलती है एवं इन सब के पणिामस्वरूप मृदा अपरदन कम होता है।

रासायनिक प्रभाव

1. उपलब्ध नाइट्रोजन का जैविक पदार्थों के साथ मिलकर अस्थाई

रूप से अनुपलब्ध हो जाना और कुछ समय के बाद उपलब्ध होना।

2. कार्बोहाइड्रेटों के विच्छेदन के कारण पृष्ठीय मृदा का अपचयन।

3. मृदा के अपचयन के कारण कम पोटाश उपलब्ध होना। पोटाश की कुल मात्रा बढ़ जाती है, क्योंकि फसलों की जड़ों–ढंठलों आदि में पोटाश की मात्रा 0.5 से 1.0 प्रतिशत तक रहती है।

4. कम अपवाह होने के कारण पोषक तत्वों की हानि का बहुत कम हो जाना।

जैविक प्रभाव

कार्बोहाइड्रेट की आपूर्ति अधिक होने से सूक्ष्मजीवीय किया बढ़ जाती है, क्योंकि अधिक ऊर्जा उपलब्ध हो जाती है एवं ताप तथा आर्द्रता की स्थिति अधिक अनुकूल हो जाती है।

भूमि सामर्थ्य वर्ग 2,3 एवं 4 में पलवार (मल्च) बनाने के किया से सबसे ज्यादा लाभ की आशा की जानी चाहिए। उन फसलों में, जिनमें कम गूड़ाई की आवश्यकता होती है, पलवार (मल्च) बनाना काफी लाभप्रद हो सकता है।

पलवार बनाने के लिए सबसे अधिक उपयोग कृषि उत्पादों का ही होता है। ऐसी सामग्रियों में मुख्य हैं– भूसा, जड़, तना (पौधों का), पुआल, मक्के की बल्लेरी, बांस के तने एवं, जड़ें। इस काम के लिए व्यवहित अन्य सामग्रियों में लकड़ी का बुरादा, कागज, प्लास्टिक, पालिथीन तथा कुछ रसायन हैं। फसल की कटाई के बाद ढंठों को जड़ों की तहों छोड़ देना सबसे उपयोगी माना जाता है।

पलवार (मल्च) बनाने में यह सावधानी रहे कि ऊपरी सतह का 60 से 75 प्रतिशत भाग मल्च से ढंक जाए। फसल लगाने के इतना पहले मल्च बनाना चाहिए कि फसल लगने तक जैव पदार्थ का अपघटन आंरभ हो जाए तथा किसी भी स्थिति में फसलों की वृद्धि काल में अपघटन नहीं चालू रहे। मिट्टी को भुरभुरी बना देना भी

आवश्यक रहता है, जिससे हवा का स्वच्छन्द प्रवाह नहीं रुकने पाए। खेत में नाइट्रोजन की मात्रा पर्याप्त होना चाहिए अन्यथा कार्बन : नाइट्रोजन पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

आवरण सस्योत्पादन

कोई भी फसल, जो भूमि की सतह को आवरण प्रदान करने के उद्देश्य से उगाई जाती है, आवरण सस्य कहलाती है। इस दृष्टि से, भूमि पृष्ठ पर उगनेवाला कोई भी तृण ऐसा नहीं है, जो किसी न किसी सीमा तक भूमि पृष्ठ को आवृत्त न करता हो। इस प्रकार प्रायः सभी प्रकार की फसलें, घासें, दलहनें आदि जो इस उद्देश्य से उगाई जाती है, आवरण सस्य के अंतर्गत सम्मिलित की जा सकती है। व्यावहारिक दृष्टि से चौड़ी पत्ती वाली दलहनों एवं जकड़कर उगने वाली घासों को इसके अंतर्गत विशेष रूप से सम्मिलित किया जाता है, क्योंकि ये अपेक्षाकृत अधिक प्रभावी आवरण प्रदान करती है।

मृदा अपरदन रोकने के साथ–साथ आवरण सस्य मृदा में जैव पदार्थ की मात्रा बढ़ाने में भी सहायक होती हैं।

आवरण सस्योत्पादन से लाभ

आवरण संस्था से निम्नलिखित लाभ होते हैं–

1. ये अपवाह जल को घटाती है एवं मृदा अपरदन रोकती हैं।
2. मृदा में जैव पदार्थ की मृदा क्षरण की संरचना में सुधार लाती हैं एवं गहराई तक जाने वाली जड़ों की सहायता से मृदा की अंतः स्पंदन शक्ति एवं संरघ्रता बढ़ाती हैं।
3. गिरती हुई वर्षा की बूंदों से कंबल की तरह पृष्ठीय मृदा की रक्षा करती हैं।
4. पोषक तत्वों को निक्षालित होने से रोकती हैं एवं मृदा उर्वरता बढ़ाती हैं।

5. मिट्टी में पलट देने पर पाषक तत्व मिलते हैं एवं इसके सड़ने पर खेत की जुताई में आसानी होती है।
6. टैरेस- जैसे यांत्रिक निर्माणों को खराब होने से रोकती हैं।
7. ये पशुओं के लिए चारा प्रदान करती हैं।

आवरण सस्यों के प्रकार

आवरण सस्यों को निम्नलिखित प्रकार से विभाजित किया जाता है –

1. *मृदा क्षयकारी फसलें*
2. *मृदा संरक्षणकारी फसलें*
3. *मृदा निर्माणकारी फसलें*

1. *मृदा क्षयकारी फसलें*

यद्यपि सभी फसलें किसी न किसी मात्रा में भूमि की उर्वरता का ह्रास ही करती है, फिर भी, मृदा क्षयकारी फसलों का विशेष से। अभिप्राय उन फसलों से है, जो पौधों के लिए आवश्यक प्रमुख पोषक तत्वों, जैसे नाइट्रोजन, फॉस्फोरस और पोटाश का ह्रास, अपेक्षाकृत, अधिक एवं शीघ्रता से करती हैं। इनके अंतर्गत मक्का, कपास, आलू, तंबाकू, आदि फसलें सम्मिलित की जा सकती हैं, जिनमें अधिक जुताई–गुड़ाई की आवश्यकता पड़ती है, जिसके फलस्वरूप, भूमि से जैव अंश एवं नाइट्रोजन का ह्रास तीव्र दर से होता है। साथ ही, भूमि पृष्ठ के अत्यधिक विडोलन हो जाने के कारण अपरदन की संभावना भी अधिक हो जाती है।

2. *मृदा संरक्षणकारी फसलें*

ये वे फसलें है, जो भूमि का कम से कम विडोलन करके उगाई जा सकती हैं इनमें रिजका (लूसर्न), क्लोवर, लेस्पेडेजा, कृद्जू, दूब

एवं चरागाह की घासें आती हैं। ये फसलें मृदा अपरदन को भी काफी हद तक कम कर देती हैं। संरक्षणकारी फसलें कहने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि इनके दवारा किसी प्रकार से उर्वरता ह्रास नहीं होता है। अन्य फसलों की तुलना में ये बहुत कम क्षयकारी होती हैं।

3. *मृदा निर्माणकारी फसलें*

मृदा निर्माणकारी फसलें भी अंततः किसी न किसी मात्रा में (भले ही अल्प मात्रा में) भूमि एवं उसकी उर्वरता का ह्रास ही करती हैं, परंतु व्यावहारिक दृष्टि से, ये अन्य की तुलना में, भूमि का संरक्षण करने के साथ–साथ भूमि की दशा में सुधार भी करती हैं। फसलें मृदा खनिजों का निर्माण नहीं करती, क्योंकि वे मृदा से ही उपलब्ध हो सकते हैं तथा अंततः मृदा में ही पहुंच जाते हैं (फसलों को भूमि में पलट देने पर)। हरी फसलों को भूमि में पलट कर जैव अंश में किसी सीमा तक वृद्धि हो सकती है, परंतु ह्यूमस की मात्रा में हमेशा ही वृद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि भूमि में विद्यमान नाइट्रोजन की मात्रा कार्बन : नाइट्रोजन अनुपात, पलटे जाने वाले जैव अंश में कार्बन : नाइट्रोजन के अनुपात एवं विघटन की प्रकृति व दर पर निर्भर है। वैसे खनिज मृदा के अंदर, कार्बन और नाइट्रोजन का अनुपात प्रायः इतना स्थिर (लगभग 12:1 या 10:1) रहता है कि उसमें अधिक परिवर्तन नहीं किया जा सकत। दलहनी फसलें, किसी मात्रा में वायुमंडलीय नाइट्रोजन का स्थिरीकरण (मूल ग्रंथियों में स्थित नाइट्रोजन स्थिरीकारी जीवाणुओं दवारा) करती हैं, परंतु अपनी वृद्धि में, अपेक्षाकृत बहुत अधिक नाइट्रोजन व अन्य पोषक तत्वों का ह्रास भूमि से कर देती है। वैसे, अन्य फसलों से कुछ न प्राप्त होने की तुलना में इनके दवारा "कुछ प्रदान किया जाना", किसी भांति निर्माणकारी कहा जा सकता है।

मृदा निर्माण एक अत्यंत धीमी किया है। यह तो सच ही है कि कोई भी फसल, भूमि की उत्पादकता एवं उर्वरता में शुद्ध वृद्धि नहीं कर पाती और स्थायी रूप से बिल्कुल ही नहीं। तुलनात्मक रूप से ही सही, सर्वाधिक "मृदा निर्माण " तभी संभव हो सकता है जब भूमि पृष्ठ

को एक अच्छे घास आवरण द्वारा स्थायी रूप से आच्छादित रखा जाए तथा उसमें समय–समय पर खादों व उर्वरकों का प्रयोग किया जाता रहे। परंतु, व्यावहारिक कारणों से हमेशा ही एवं प्रत्येक भूमि में यह संभव नहीं हो सकता और न ही ऐसा करना उचित ही होगा।

फसल-चक्र

भू–उर्वरता बनाए रखने में फसल-चक्र का महत्व सर्वविदित है। भू–अपरदन रोकने में भी इसका महत्व कम नहीं हैं। किस जगह पर कैसा फसल-चक्र होना चाहिए, यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करेगा कि भू-सामर्थ्य वर्गीकरण में वह भूमि किस वर्ग में है। मूंगफली, अरहर एवं मोठ-जैसी फसलों को फसल योजना में स्थान देना आवश्यक है, क्योंकि इनके रहने पर भू–अपरदन कम होता है।

विभिन्न फसलों का एक निश्चित क्षेत्रफल में आवर्ती अनुक्रमण सस्यावर्तन या फसल-चक्र (crop rotation) कहलाता है और जब इसके लिए फसलों का चुनाव भूमि संरक्षण की दृष्टि से किया जाता है तो उसे संरक्षण सस्यावर्तन कहते हैं।

फसल चक्र मृदा उर्वरता में सुधार करने तथा इसके उच्च स्तर को बनाए रखने में सहायक होते हैं। अच्छे फसल चक्र में फलीदार फसलों और दालों का प्रयोग किया जाता है तथा इन्हें धान्यों एवं अन्य अनाजों और नकदी फसलों के साथ बारी-बारी से बोया जाता है। मृदा उर्वरता की दृष्टि से फसल चक्र के निम्नलिखित लाभ हैं :

1. इससे भूमि पर प्रायः हमेशा ही फसलें लहलहाती रहती हैं।
2. इससे जड़ों के पोषण परिसर की स्थिति बदल जाती है।
3. इससे मृदा में नाइट्रोजन और जैव पदार्थ की मात्रा में वृद्धि होती हैं।
4. इससे मृदा की भौतिक, रासायनिक तथा जैविक दशाओं में सुधार होता हैं।

सामान्य कृषि फसलों का आवर्तन, भूमि संरक्षण की दृष्टि से हमेशा ही प्रभावकारी सिद्ध नहीं होता। अतः सामान्य कृषि फसलों के साथ–साथ भूमि को अपेक्षाकृत अधिक आवरण प्रदान करने वाली घासों व दलहनों का समावेश आवश्यक हो जाता है। घासें व दलहनें अपरदन नियंत्रण में काफी योगदान देती हैं। ऐसा देखा गया है कि ब्लू घास को सस्यावर्तन में सम्मिलित कर लेने पर, निरंतर मक्का को ही आवर्तित करने की तुलना में, क्षरण में 60 प्रतिशत से अधिक कमी हुई है।

कुछ प्रमुख संरक्षणकारी सस्यावर्तन के उदाहरण इस प्रकार हैं–

1.	मक्का, गेहूं, घास स्थली	3 वर्ष
2.	मक्का–कपास, जई	2 वर्ष
3.	आलू, जई–रेड क्लोवर	3 वर्ष
4.	आलू–टिमोथी	1 वर्ष
5.	कपास गेहूं लेस्पेडेजा	1 वर्ष
6.	चुकन्दर सेम रिजका	कई वर्षों तक

जहां भूमि क्षरण की समस्या अधिक हो, वहां पर कृषि फसलों के साथ घासों का अनुपात सस्यावर्तन में अधिक रखा जाना चाहिए तथा क्षरण नियंत्रण कार्य प्रणालियों, जैसे वेदिकायन, समोच्च कृषि और पट्टिका खेती का प्रयोग किया जाना चाहिए।

च. *ले कृषि*

जब घासों को कृषि फसलों के साथ–साथ आप्वर्तित करते हैं तो कृषि की इस प्रणाली को ले कृषि कहा जाता है।

इंग्लैंड और संयुक्त राज्य अमेरिका में यह प्रणाली भूमि की उत्पादकता में वृद्धि करने तथा उत्तम कोटि का पशु चारा उत्पन्न करने के लिए व्यापक रूप से प्रयोग किया जाता है। "ले कृषि" से

भूमि की संरचना में उत्तरोत्तर सुधार हो सकता है तथा जल द्वारा होने वाले भूमि अपरदन को नियंत्रित किया जा सकता है। ले घासों का प्रयोग समोच्च एवं ढालू बांधों, खेत की सीमा मेड़ों तथा वेदिकाओं एवं घासदार जल मार्गों में भी किया जा सकता है।

भली प्रकार प्रबंधित ले भूमि क्षेत्र से एक अच्छा घास आवरण प्राप्त करने तथा भूमि अपरदन को प्रभावशाली ढंग से नियंत्रित करने के लिए ले क्षेत्र से आवर्ती चराई की विधि अपनाई जानी चाहिए।

छ. एकल सस्य कृषि

यह कृषि की वह कार्य प्रणाली है जिसमें किसी निश्चित भूमि क्षेत्रफल पर प्रत्येक वर्ष एक ही फसल उगाई जाती है। यदि भूमि में अथवा अन्य प्रकार से उत्पादकता व उर्वरता के ह्रास को किसी अनुमेय सीमा तक नियंत्रित किया जा सके तथा कीटों व व्याधियों से सुरक्षा की समुचित व्यवस्था की जा सके, तो यह विधि निरापद एवं लाभदायक सिद्ध हो सकती है।

एकल सस्य कृषि प्रणाली का सिद्धांत यह है कि यदि एक निश्चित क्षेत्र पर विभिन्न प्रकार की भूमि दशाएं विद्यमान हैं तो प्रत्येक प्रकार की भूमि दशा के लिए सर्वाधिक उपयुक्त कोई एक फसल ही ली जाए। उदाहरण के लिए, जिस भूमि में जल अपरदन का संकट गंभीर है उसमें निकटवर्ती फसलें ली जा सकती हैं, जबकि इससे बेहतर भूमि दशाओं के लिए, अन्तः कर्षित फसलें संस्तुत की जा सकती हैं।

एक सस्य कृषि विधि के अपनाने से, मृदा के उर्वरता स्तर को सस्यावर्तन प्रणाली की अपेक्षा अधिक सुविधापूर्वक समायोजित एवं नियंत्रित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, रिजका (लूसर्न) की फसल लेने के लिए भूमि में अधिक चूने की आवश्यकता हो सकती है, लेकिन इतनी ही मात्रा मक्का अथवा अन्य किसी फसल के लिए आवश्यक नहीं, बल्कि हानिकारक भी सिद्ध हो सकती है। इसके

विपरीत, मक्का आदि की अधिक उपज के लिए नाइट्रोजन की, अपेक्षाकृत अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है।

इसके अतिरिक्त, एकल सस्य प्रणाली का एक महत्वपूर्ण लाभ यह है कि इसमें सस्य कम योजना का आयोजन करते समय, प्रतिवर्ष विभिन्न प्रकार की फसलों को उगाने से संबधित विविध प्रकार की जानकारी, कृषि उपकरणों, बीजों, खादों, सिंचाई की विधियों, कीट व्याधियों की नाशक दवाओं आदि का संग्रह करने की आवश्यकता नहीं होती।

उपरोक्त बातों के साथ–साथ एकल सस्य कृषि प्रणााली की कुछ समस्याएं भी हैं जो मुख्यतः निम्नलिखित हैं–

1. भूमि एवं फसल प्रबंधन के लिए अपेक्षाकृत अधिक तकनीकीय कुशलता की आवश्यकता।
2. नाइट्रोजन की संपूर्ण आवश्यक मात्रा खादों व उर्वरकों से ही देना आवश्यक (मृदा में नाइट्रोजन स्थिरीकरण की संभावना न होने के कारण)।
3. भूमि अपरदन की समस्या
4. कीट व्याधिनाशक रसायनों पर अधिक निर्भरता।
5. मृदा जैव पदार्थ व मृदा संरचना में ह्रास की संभावना और
6. खरपतवारों की समस्या।

घास-प्रबंध

"घासें" मृदा संरक्षण के सर्वोत्तम साधनों में से हैं। यदि कृषिगत फसलों की समोच्च पट्टियों के साथ एकांतर क्रम में घास की पट्टियाँ भी बना दी जाएं, तो इससे केवल मृदा और आर्द्रता के संरक्षण के संबंध में ही बहुत अच्छे परिणाम प्राप्त नहीं होंगे, वरन् मृदा की संरचना और उर्वरता में भी सुधार हो जाएगा। जैसे–जैसे ढाल बढ़ता जाता है, मृदा

अपरदन का भय भी बढ़ता जाता है। इसलिए अकेली पट्टीदार खेती करना प्रभावशाली नहीं होता। जहां उन्नत कृषि विधियों के साथ–साथ यान्त्रिक साधन उपयोगी नही होते हैं, वहां प्रायः घास और कृषि फसलों को मिलाकर बोने से ही काम चल जाता है। भारत के उन समस्या प्रधान क्षेत्रों में पट्टिदार खेती का पर्याप्त महत्व है, जहां वर्षों से अपरदन की रोकथाम हेतु प्रयुक्त कृषि फसलों की पट्टियों की सुरक्षा के लिए खरीफ की वर्षा अपर्याप्त रही हैं।

मृदा संरक्षण में घासों की भूमिका बड़ी महत्वपूर्ण है। मृदा क्षरण रोकने में घासों की भूमिका इस प्रकार है–

1. घासें सामान्यतः जलीय अपरदन को रोकती हैं। इसे रोकने की क्रिया में कई तथ्य हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं, जैसे – वानस्पतिक छतरी के द्वारा वर्षा को बीच में ही रोक देना, जिससे वर्षा का बहुत-सा भाग पत्तियों पर से ही वाष्पीकृत होकर उड़ जाता है एवं नीचे आने वाली बूंदों का संघाती प्रभाव बहुत कम हो जाता है। अपवाह जल की गति को सीमित करके मिट्टी को कटाव से कम करने क्रिया में घासें महत्वूपर्ण भूमिका निभाती हैं। हरी दूब इस कार्य के लिए बहुत उपयोगी साबित हुई हैं।

   कणिकायन, भू–संरंध्रता एवं अन्तःस्पंदन सामर्थ्य बढ़ाकर घासें अपरदन रोकती हैं। घासों का प्रभाव उपयुक्त संदर्भ में मृदा संरक्षण पर बहुत ही लाभदायक होता है। हरी दूब एक ऐसी आम घास है, जो बहुत अधिक कणिकायन करती हैं, संरध्रता, कार्बनिक पदार्थ की मात्रा तथा जल धारक शक्ति बढ़ाती है।

2. घासें, मेड़ों एवं अपवाह जल के निकास मार्ग की रक्षा करती हैं। कुछ घासें मेड़ों को स्थायित्व प्रदान करती हैं एवं अपवाह जल के निकास मार्ग को इस ढंग से रखती हैं कि कम से कम मृदा क्षरण हो सके।

3. घासों के द्वारा गली नियंत्रण भलीभांति होता है।

4. नदी नालों के किनारे होने वाले क्षरण की रोकथाम के लिए घासें बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई हैं।

भूमि सामर्थ्य वर्ग 4 में घास न लगाना बहुत आवश्यक हो जाता है। वर्ग 5,6 एवं 7 की भूमि तो पशुचारी एवं घासन लगाने के योग्य ही होती हैं। वर्ग 3 एवं 4 में तीन चार साल अन्न उपजाने के बाद एक दो साल के लए घास लगा देनी चाहिए । इस ढंग की फसल योजना को ले कृषि की संज्ञा देते हैं। इसकी मुख्य बात यह हैं कि फसलचक्र में घासों का महत्वपूर्ण स्थान रहता है, जिससे पशुओं के लिए चारा मिल जाता है, भू–उर्वरा शक्ति बढ़ती है और मृदा अपरदन रुकता है। भारत में घास की खेती का महत्व बहुत अधिक उन इलाकों में हो सकता है, जहां पृष्ठीय मृदा अपरदनित होकर मात्र कुछ सेटीमीटर रह गई है।

कृषि अनुसंधान केंद्र, शोलापुर में सूखे का मुकाबला करने वाली, मृदा संरक्षण और विशेष रूप से बंधों को स्थिरता प्रदान करने में अत्यधिक उपयोगी कुछ बारहमासी घासों को चुना गया है। कुछ अत्यधिक उपयोगी घासें ब्लू पेनिक (पैनिकम एण्टीडोटेल), नेपियर घास (पेनीसेटम परप्यूरिअम), राड्स घास, क्लोरिस गायना, मोंल (डाइकेथियम नोडोसम) और पारना (शीमा नर्वासम) हैं।

इसी प्रकार फैलेरिस ट्यूबरूसा, इराग्रोस्टिस कर्बूला, इराग्रोस्टिस एमाइिविलिस, साइनोहोन डेक्टिलोन और डैसिलिस ग्लोमेराटा की तरह की घासें नीलगिरि (तमिलनाडु) के पहाड़ी भू–भागों में मृदा अपरदन को नियंत्रित करने में बहुत प्रभावकारी सिद्ध हुई हैं।

घासों को कृषि फसलों के साथ फसल–चक्र में उगाने की विधि को मृदा उर्वरता के बढ़ाने और मवेशियों के लिए अच्छा चारा प्रदान करने में अत्यधिक प्रभावशाली पाया गया है। इस विधि का अधिकतर संयुक्त राज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन में प्रयोग किया गया है, तथा इसे भारत के अनेक भागों, जैसे नीलगिरि में भी क्रियान्वित किया जा सकता है जहां इसकी सफलता के लिए जलवायु संबंधी कारक अनुकूल होते हैं।

यदि चरागाही भूमियों का विकास किया जाए और उनकी ठीक ढंग से देखभाल की जाए, तो हमारे देश के बहुत बड़े क्षेत्रों को उन्नत किया जा सकता है। जहां कृषि योग्य भूमियां बहुत अधिक अपरदित हो चुकी हैं, वहां उन्हें खाली छोड़ दिया जाना चाहिए और यदि जलवायु अनुकूल हो तो उनमें घासस्थालियां और चरागाह बना देने चाहिए। कुछ सूक्ष्ममात्रिक तत्वों उनमें घासस्थलियों और चरागाह बना देना चाहिए। कुछ सूक्ष्म मात्रिक तत्वों जैसे तांबा, जस्ता और मॉलिब्डेनम को डाल कर तथा नियन्त्रित कमिक चराई के लिए प्रयोग करके इन भूमियों को मवेशियों के लिए पर्याप्त चारा पैदा कराने एवं और अधिक अपरदन को रोकने वाली अच्छी चरागाह भूमियों के रूप में बदला जा सकता है। यह विशेष रूप से राजस्थान के मरुस्थलों के लिए उपयुक्त है जहां वर्षा की कमी और रेतीली मृदा के कारण कृषि नहीं की जा सकती। अच्छी बाढ़ और कमिक चराई की व्यवस्था करने से इन क्षेत्रों को उत्तम चरागाह भूमियों में बदला जा सकेगा, जिससे न केवल भयंकर वाजत अपरदन को ही रोका जा सकेगा, वरन् पशु–पालन जो मरुस्थल के जन समुदाय का प्रधान आधार है– को विकसित करने में भी सहायता मिलेगी। उत्तम घासों को उगाना और अच्छे चरागाहों का विकास करना उतना ही अच्छा होगा,जितना कि उनका प्राकृतिक रूप से उगना। इससे भूमि पर वनस्पतियां उगने लगेंगी और परिणामतः आहार और मृदा संरक्षण संबंधी आवश्यकताएं पूरी हो जाएंगी।

झ. <u>भू–परिष्करण</u>

वैसे इलाकों में जहां जलीय अपरदन की किया चालू है या जहां इसका भय बना रहता है, किस ढंग से भू परिष्करण क्रिया की जाए, यह एक विवादास्पद विषय रहा है। जल संरक्षण के लिए जहां गहरी जुताई लाभदायक लगती है, वहीं गहरी जुताई से कभी–कभी मृदा अपरदन की गति को तीव्र होते भी देखा गया है। गहरी जुताई से मृदा को अन्तःस्पंदित होता है तथा कम जल अपवाह का रुप धारण

कर पाता है। एक गहरी जुताई के बाद एक दो बार कल्टीवेटर जैसे यंत्र से हल्की जुताई कर देने से खेत की तैयारी हो जाती है। जुताई-जैसी क्रियांए निश्चित रूप से समोच्च रेखाओं पर ही की जानी चाहिए।

ट. *खाद एवं उर्वरकों का प्रयोग*

सामान्यतः यह विश्वास किया जाता है कि बारानी क्षेत्रों की मृदाओं में पौधों के लिए आहार काफी मात्रा में होता है। किंतु महाराष्ट्र के दक्खन भू–भाग में इस प्रकार की भूमियों पर किए गए एक सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि अधिकांश मृदाओं में ह्यूमस और नाइट्रोजन की कमी होती है। सुलभ फॉस्फेटों और सूक्ष्ममांत्रिक तत्वों की मात्रा की भी बहुत कम होती है, और वांछनीय मृदा संरचना का अभाव होता है। इसलिए इन मृदाओं में केवल आर्द्रता–संरक्षण से ही लाभप्रद पैदावार नहीं होती है।

बारानी खेती अनुसंधान केंद्र, शीलापुर (महाराष्ट्र) में किए गए अन्वेषणों से पता चलता है कि मृदा के उर्वरता स्तर में सुधार करने के लिए खादों (जैविक और रासायनिक दोनों प्रकार की) का प्रयोग करना आवश्यक है। गोबर की खाद ने न केवल इन क्षेत्रों में ज्वार की पैदावार को लगभग 30 प्रतिशत तक बढ़ाया है बल्कि मृदा की संरचना और जल धारण क्षमता में भी सुधार किया है। इसने मृदा में फॉस्फेट और सूक्ष्ममांत्रिक तत्वों की सुलभता को बढ़ाने में भी सहायता की है। बोआई से 15–30 दिन पूर्व मूंगफली की खली का प्रयोग करने से ज्वार की पैदावार में लगभग 40 प्रतिशत वृद्धि पाई गई । हरी खाद और फॉस्फेट युक्त उर्वरक मिला कर डालने पर असाधारण रूप से अधिक पैदावार हुई। जब सूक्ष्ममांत्रिक तत्वों, जैसे बोरोन, मैंगनीज और जस्ते को भिन्न–भिन्न अल्प मात्राओं में डाला गया तो अनावृष्टि वाले वर्षों में भी मूंगफली-जैसी फलीदार फसलों की पैदावार में 15–20 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

मृदा में गोबर की खाद, हरी खाद, उर्वरक और सूक्ष्मयांत्रिक तत्वों

को मिलाने पर न केवल मृदा की उत्पादन क्षमता बढ़ती है, बल्कि इसकी संरचना और जल धारण क्षमता में भी सुधार हो जाता है।इस प्रकार मृदा और नमी संबंधी क्षतियों पर नियंत्रण करने में भी सहायता मिलती है।

ब. यांत्रिकी पर आधारित उपाय

वैसे तो मृदा संरक्षण की सबसे सस्ती विधि सस्य विज्ञान पर आधारित प्रणाालियां ही हैं, तो भी विभिन्न क्षेत्रों की मृदा, ढाल, बरसात और सस्योत्पादन पद्धति के भिन्न–भिन्न होने के कारण इन्हीं प्रणालियों का प्रयोग करना सदैव संभव नहीं होता। अतः नियंत्रण के लिए यांत्रिक विधियों का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है।

यांत्रिक उपायों के मुख्य लक्ष्य इस प्रकार हैं–

1. अपवाह जल की गति को सीमित करना जिससे उसकी काफी मात्रा अंतःस्यंदित हो जाए,
2. प्रवण ढाल को विभक्त करके प्रवणता कम करना, एवं
3. अपवाह तथा वर्षा जल से होने वाली हानि को कम करना।

इन लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु अपनाए जाने वाले प्रमुख यांत्रिक उपाय इस प्रकार हैं–

वेदिकांए

वेदिकांए चौड़े आधार वाली मेंड़ होती हैं। जिन देशों में कृषि के लिए यांत्रिकी का बड़े स्तर पर प्रयोग किया जात है, वहां ये वेदिकाएं व्यापक रूप से कई प्रकार से बनाई जाती हैं।

वेदिकायन या वेदिका खेती अपवाह जल एवं अपरदन–नियंत्रण की वह यांत्रिक कार्य प्रणाली है, जिसके अंतर्गत भूमि के ढाल की आड़ी दिशा में मिट्टी या पत्थर के भराव अथवा कूटक और नालियां बनाई जाती हैं। इन रचनाओं को वेदिकाएं कहते हैं। वेदिकायन और

मेंड़बंदी में कोई विशेष मौलिक अंतर नहीं है– सिवाए इसके कि मेंड़ो पर कृषि क्रियाएं नहीं की जाती जबकि वेदिकाओं के कूटकों एवं नालियों पर समान रूप से कृषि की जाती है।

वेदिकाओं के कार्य

वेदिकाओं के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं –

(1) ढाल की प्रवणता एवं लंबाई कम करना और इस प्रकार पृष्ठवाह, अल्पसरित एवं खड्ड को कम करना।

(2) अपर्याप्त वर्षा क्षेत्रों में अपवाह जल का अवरोध तथा भूमि में नमी का संरक्षण।

(3) भारी वर्षा वाले क्षेत्रों में अतिरिक्त अपवाह जल को सुरक्षित एवं अक्षरणशील वेग पर किसी जल मार्ग की तरफ मोड़ देना।

वेदिकाओं के संरक्षण कार्यों की सफलता इनके साथ संयुक्त रूप से अपनाई जाने वाली फसलोत्पादन एवं अन्य संरक्षण सस्य प्रणाालियों पर निर्भर है।

वेदिकाओं के प्रकार

वेदिकाओं का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है। निर्माण की दृष्टि से वेदिकाएं मुख्यतः दो प्रकार की होती हैं–

1. *सोपान वेदिका*
2. *कूटक और नाली वेदिका।*

सोपान वेदिकाओं के ढाल की आड़ी दिशा में मिट्टी अथवा पत्थर के कई क्रमिक सीढ़ीनुमा प्लेटफार्म बनाए जाते हैं, जिन्हें सोपानवत खेत अथवा सीढ़ीदार खेत कहा जाता हैं। कूटक और नाली वेदिका में मेंड़ एवं नाली कम से बनाई जाती हैं।

सोपान वेदिकाओं

सोपान वेदिकाओं वास्तव में वेदिका प्रणाली के आंरभिक कही

जा सकती है। संसार के उन सभी भागों में जहां कृषि भूमियां पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हैं तथा मानव श्रम अपेक्षाकृत सस्ता है, खड़े ढालों पर सीढ़ीदार खेती का प्रचलन पाया जाता है।

सोपान वेदिकायन का इतिहास संभवतः उतना ही पुराना है, जितना कि कृषि का। फिलीपाइन्स में लगभग दो हजार वर्ष पूर्व वहां के मूल निवासियों द्वारा निर्मित सोपान वेदिकाओं पर आज भी महत्त्वपूर्वक खेती की जाती है। भारत में सोपान वेदिकाएं पर्वतीय ढालों पर पाई जाती हैं।

सोपान वेदिकाए प्रायः पंद्रह से तैंतीस प्रतिशत ढालों पर बनाई जाती हैं। इतने अधिक ढालों पर मेंड़बंदी या अन्य कोई संरक्षण प्रणाली उपयुक्त नहीं हो सकेगी।

सोपान वेदिकाओं का निर्माण कार्य महंगा पड़ता है तथा इन पर भारी कृषि यंत्रों द्वारा खेती करना संभव नही है। इसके अतिरिक्त सोपान वेदिकाएं अत्यंत सीमित क्षेत्रों में ही अपनाई जा सकती है।

सोपान वेदिकाओं के प्रकार

रचना और कार्य की दृष्टि से सोपान वेदिकाएं निम्नलिखित प्रकार की हो सकती हैं–

1. *समतल वेदिकांए –*

वेदिकाओं को समोच्च रेखा पर बनाया जाता है। इनका कार्य पानी को रोककर मृदा द्वारा अवशोषण कराना है। ये उन स्थानों के लिए उपयोगी होता है, जहां वर्षा कम और मृदाओं की अंतःस्रवण क्षमता बहुत अधिक होती हैं।

ये वेदिकाएं ढालन युक्त समोच्च रेखा पर बनाई जा सकती है, ताकि पानी निकास नाली या मोरी तक आसानी से पहुंच सके। ये अवशोषी वेदिकाओं का भी कार्य करती हैं तथा मध्यम दर्जे, अर्थात् 20–30 इंच तक की वर्षा वाले क्षेत्रों में उपयोगी होती हैं।

इसमें प्लेटफार्म समतल बनाए जाते हैं। ऐसी वेदिकाएं उन क्षेत्रों के लिए उपयुक्त होती हैं, जिनमें वर्षा की मात्रा औसत तथा उनका वितरण समान होता है और भूमियां पर्याप्त होती हैं।

2. ढाल या बर्हिगामी ढालू वेदिका

यह न्यून वर्षा एवं पारगम्य भूमि वाले क्षेत्रों के लिए उपयुक्त है। इसमें सोपानों का ढाल बाहर अर्थात् उतार की तरफ होता है। सोपान के बाहरी किनारे पर एक किनारा बंद मेंड़ दिया जाता है, जो निर्दिष्ट जलमार्ग में सुरक्षित वेग पर बहाने का कार्य करता है।

3. प्रतिवर्ती ढाल या अंतर्गामी ढालू या कदम सोपान वेदिका

यह वेदिका उन क्षेत्रों के लिए उपयुक्त है जहां भारी वर्षा होती है तथा भूमि की गहराई एवं पारगम्यता अपेक्षाकृत कम है। सोपानों के भीतरी किनारे बाहरी किनारों की अपेक्षा लगभग 30 सेमी नीचे रखे जाते हैं। फलतः अतिरिक्त अपवाह जल भीतरी किनारे के सहारे बहकर किसी उचित निर्माण मार्ग द्वारा खेत से बाहर हो जाता है।

4. सिंचाई वेदिका

कभी–कभी समस्त सोपानों के बाहरी किनारे पर एक उठी हुई समोच्च भित्ति बना दी जाती है जिसका मुख्य कार्य सिंचाई जल को खेत के भीतर अवरूद्ध करना होता है। सिंचाई वेदिका धान, वायु, चाय, फल तथा अन्य मूल्यवान फसलों के लिए है।

5. कैलिफोर्निया सोपान वेदिका

इस प्रकार की सोपान वेदिका संयुक्त राज्य अमेरिका में नींबू आदि फलोद्यानों के लिए प्रयोग की जाती है। यह खोजकर्त्ता एच.ई. रडिक के नाम पर "रडिक वेदिका" भी कही जाती है। इसे निर्मित करने के लिए सर्वप्रथम वृक्षारोपण की पंक्तियां सिंचाई की प्रवणता रेखाओं पर विन्यस्त कर ली जाती है। इन प्रवणतर रेखाओं के साथ–साथ छोटे कूटक भी दो या तीन कूड़ा के साथ–साथ छोटे कूटक भी दो या तीन कूड़ों के साथ–साथ निर्मित किए जाते हैं।

कूटकों पर वृक्षारोपण किया जाता है। सिंचाई जल कूटक के ऊपरी किनारे की ओर से प्रयोग किया जाता हैं। भूपरिष्करण क्रियाए सिंचाई रेखा की दिशा में इस प्रकार की जाती हैं कि वनस्पतियों की संकीर्ण पट्टियाँ वृक्षों की पक्तियों के मध्य छूट जाती है। आड़ी दिशा में कर्षण क्रिया को रोककर, इस वेदिका का निर्माण धीरे–धीरे किया जाता हैं। जब सोपान पूर्णयता निर्मित हो जाता है तो कुछ वर्षो की कृषि एवं सिंचाई के बाद वृक्ष खड़े ढालों के निचले भागों की ओर खड़े दिखाई देते हैं, जो पूर्णतया वनस्पतियों द्वारा सुरक्षित होते हैं।

6. कूटक और नाली वेदिका

यहाँ पर उद्देश्य जल प्रवाह की दिशा को बदलना है। इन वेदिकाओं के अंर्तगत भूमि के ढालों के समकोणिक उचित फसले पर तथा उपयुक्त क्रम में खोदी गई चौड़ी तथा अपेक्षाकृत उथली नालियां बनाई जाती हैं। नाली में से खोदी गई मिट्टी आदि को नाली के निचले हिस्से में लगाकर चौड़ी और छोटी मेड़ बना देनी चाहिए। वे वेदिकाएं अत्यधिक वर्षा वाले क्षेत्रों के लिए उपयोगी होती हैं और उन भू–भागों के लिए भी उपयोगी होती हैं, जहां इनको बनाने का उद्देश्य मृदा अपरदन को पूरी तरह रोकना है, न कि आर्द्रता का संरक्षण कराना।

इस प्रकार की वेदिका प्रणाली में भूमि ढाल की आड़ी दिशा में मेंड़े और नालियां एकांतर क्रम में बनाई जाती हैं।

इस प्रणाली का प्रयोग प्रायः 15 प्रतिशत से कम ढाल वाली मैदानी भूमियों में किया जाता है। इसका मुख्य उद्देश्य अपवाह जल की वांछित मात्रा का अवरोधन तथा अतिरक्त मात्रा का सुरक्षित वेग पर निस्तारण है।

कूटक और नाली वेदिकाओं का वर्गीकरण

कूटक और नाली वेदिकाओं का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जाता है, जैसे–

क. आकृति के अनुसार वर्गीकरण :

1. *आकृति के अनुसार वर्गीकरण*

ये उन स्थानों पर बनाई जाती हैं जहां नमी संरक्षण की दृष्टि से अपवाह जल का भूमि में अवरोधन आवश्यक होता है। अतः कूटकों का निर्माण मुख्य होता है, जो दोनों तरफ से उत्खनित मिट्टी द्वारा भरकर बनाए जाते हैं। कूटक वेदिका आधार की चौड़ाई के अनुसार पुनः दो प्रकारों में वर्गीकृत की जा सकती है–(1) संकीर्ण आधार वेदिका और (2) विस्तृत आधार वेदिका संकीर्ण वेदिका की चौड़ाई 1 मीटर से 4 मीटर तक रखी जाती है। इसे मेंड भी कहा जा सकता है। इसमें सबसे बड़ा दोष यह है कि संकीर्ण कूटकों पर कृषि नहीं की जा सकती। वेदिकाओं के विकास के प्रारंभ में प्रायः सभी कूटक और नाली वेदिकाएं संकीर्ण आधारों की ही बनाई जाती थी। 1885 में एक अमेरिकन कृषक प्रिस्टले एच. मैंगम ने सर्वप्रथम विस्तृत आधार वाली वेदिकाओं का प्रयोग किया, इसलिए इन्हें मैंगम वेदिका भी कहा जाता है। इन वेदिकाओं नर कूटकों एवं नालियों दोनों पर ही समान रूप से कृषि क्रियायें की जाती हैं। इनकी आधार की चौड़ाई 4 मीटर से 15 मीटर तक रखी जाती हैं।

2. *नाली वेदिका*

ये उन स्थानों पर उपयुक्त होती हैं जहां अपवाह जल का निस्सारण मुख्य उद्देश्य होता है। अतिरिक्त अपवाह जल के सुरक्षापूर्वक निस्सारण के लिए समुचित क्षमता वाली नाली का निर्माण मुख्य होता हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में एक विशेष प्रकार की नाली वेदिका प्रचलित है, जिसे निकोलस कहते हैं। इसका विकास वहां के भूमि संरक्षण सेवा के एक अभियंता निकोलस ने किया। इस वेदिका में नाली निर्माण हेतु उत्खनन कार्य उत्प्रवण क्षेत्र में किया जाता है।

अधिक गहरी वाली वेदिका को वेदिका खाई कहा जाता है। जब

नाली वेदिका अपवाह जल को अन्यत्र मोड़ देने का कार्य करती है, तो उसे विपणन वेदिका कहा जाता हे। विभिन्न प्रकार की कूटक और नाली वेदिकाओं के रेखा चित्र दिए गए हैं।

ख.ढाल प्रवणता के अनुसार वर्गीकरण :

1. *प्रवणित वेदिका*

इस प्रकार की वेदिकाएं, समोच्च रेखाओं से विचलित करके, एक समान अथवा परिवर्तनीय ढाल देकर बनाई जाती हैं। ये मुख्यतः नाली वेदिकाए होती है, जिनका उद्देश्य अतिरिक्त अपवाह जल का निसारण हैं।

2. *समतल वेदिका*

ये समोच्च रेखाओं से बनाई जाती हैं, तथा वेदिकाओं की लंबाई में कोई ढाल नहीं दिया जाता। ये उन स्थानों के लिए उपयुक्त हैं जहां भूमियां पर्याप्त पारगम्य हों और नमी संरक्षण मुख्य उद्देश्य हो, अथवा किसी जल मार्ग या निकास मार्ग का निर्माण, व्यावहारिक दृष्टि से, संभव न हो। समतल वेदिकायें मुख्य कूटक वेदिकाएं होती हैं।

ग. कार्य के अनुसार वर्गीकरण

1. *अवशोषण वेदिका*

इसे अंतः रोधन वेदिका या अवरोधन वेदिका भी कहा जाता हैं। इनका मुख्य उद्देश्य अपवाह जल का अवरोधन करना है। इनके अंतर्गत सभी कूट्क वेदिकाएं सम्मिलित की जाती हैं।

अपवाह जल अवरोधन एवं संग्रहक्षमता में वृद्धि के लिए, कभी–कभी वेदिकाओं के सिरे को बन्द कर देतें हैं। बन्द सिरों वाली वेदिकाओं को सिरा बन्द वेदिका तथा खुली सिरा वाली वेदिकाओं को खुली सिरा वेदिका कहते हैं।

2. जल निकास वेदिका

इन्हें अपवाह वेदिका या नाली वेदिका भी कहा जाता हैं। इनका उद्‌देश्य अतिरिक्त अपवाह जल का निकास करना है।

वेदिका निर्माण विधि -

निर्माण विधि कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व, निर्माण स्थल की वनस्पतियों, आदि को निकाल देना चाहिए, तथा वेदिका मार्ग में पड़ने वाली छोटी खाइयों को पाट देना चहिए। सर्वप्रथम शीर्ष वेदिका निर्मित की जाती हैं, तथा इसके बाद कमशः निचली वेदिकाएं निर्मित की जाती हैं। शीर्ष वेदिका को विशेष रूप से सुदृढ़ बनाया जाता हैं, क्योंकि अन्य निचली वेदिकाओं की स्थिरता इसी पर निर्भर है।

निर्माण कार्यो में, यन्त्रों द्‌वारा उत्खनित मिट्‌टी को इस प्रकार संचालित किया जाता है कि कूटक व नाली निर्मित हो सके। उत्खनन कार्य वेदिका रेखाओं के दोनों और अथवा एक ही ओर किया जाता है। यह यन्त्र के प्रकार व भूमि की दिशा पर निर्भर है। 5 प्रतिशत से कम ढाल वाली भूमियों पर जहां विस्तृत अनुप्रस्थ काट वाली वेदिकायें निर्मित की जाती हैं, कुछ मिट्‌टी निचले क्षेत्र से भी उत्खनित की जा सकती है। 5 प्रतिशत से अधिक ढाल वाली भूमियों पर केवल ऊपरी क्षेत्र से मिट्‌टी उत्खनित की जाती है। चूंकि सभी उत्खनित मिट्‌टी अनुप्रवण क्षेत्र में भरी जाती है, अतः इस कार्य के लिए एक प्रतिवर्ती यंत्र अधिक सक्षम सिद्‌ध हो सकता है। परंपरागत हल या ऐसे यंत्र जो प्रतिवर्ती नहीं हैं, प्रयोग करने पर, निर्माण की ऐसी विधि अपनाते हैं, जिसमें एक किया में कूटक तथा दूसरी क्रिया में नाली बनाई जाती हैं। इस प्रकार, लगभग 75 प्रतिशत उतखनन ऊपरी क्षेत्र से किया जाता हैं।

वेदिकाओं का निर्माण -निर्माण यंत्र-

कूटक और नाली वेदिकाओं के निर्माण के लिए, पशु–चालित

अथवा शक्ति–चालित यंत्र प्रयोग किए जाते हैं, जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं–

क. पशु चालित यंत्र

1. *मिट्टी पलट हल*
2. *व्ही–डीचर*
3. *बक स्क्रेचर*

ख.शक्ति चालित यन्त्र

1. तवेदार हल
2. मिट्टी पलट हल
3. हर्ल विंड टिरेसर
4. रोड ग्रडर
5. व्ही ड्रेग
6. बुल डीजर
7. इलेवेटिंग ग्रेडर
8. रोटरी ग्रेडर
9. मोटर पेट्रोल
10. कैरीआल

एक आदर्श वेदिका यंत्र की निम्नलिखित विशेषता होनी चाहिए–

क. मिट्टी को कूटक पर वांछित स्थान पर विस्थापित करना।

ख. निर्माण कार्य में शीघ्रता

ग. प्रायः सभी प्रकार की ढाल दशाओं के लिए समान कार्यक्षमता

घ. शीर्षमृदा को कूटक के पृष्ठ अथवा पृष्ठ के निकट फैलाना

ङ. यंत्र की प्रारंभिक व प्रयोग लागत में कमी।

निर्माण दर को प्रभावित करने वाले कारक -

वेदिका निर्माण की दर निम्नलिखित बातों पर निर्भर हैं–

1. *यंत्र का प्रकार,*
2. *मृदा नमी*
3. *सस्य व सस्यावशेष*
4. *ढाल की प्रवणता व नियमितता*
5. *मृदा टिल्थ*
6. *खड्ड आदि की बाधाएं*
7. *वेदिकाओं की लंबाई*
8. *वेदिकाओं के अनुप्रस्थ काट का आकार व आकृति और*
9. *चालक का अनुभव व कार्य कुशलता।*

कूटक और नाली वेदिका प्रणाली का आयोजन

वेदिका प्रणाली पूर्ण रुप से अपवाह विसर्जन एवं उपयुक्त भूमि प्रयोग विधि से समन्वित होनी चाहिए। संपूर्ण वाह क्षेत्र के लिए वेदिकाओं का आयोजन एक ही बार में किया जाना चाहिए, भले ही निर्माण कार्य कुछ आंशिक भागों में ही किया जा रहा हो। जहां तक व्यावहारिक हो सके, एक ही निकास क्षेत्र में पड़ने वाली सभी खेतों के लिए एक संयुक्त वेदिका प्रणाली आयोजित की जानी चाहिए। ऐसा करना भूमि संरक्षण एवं खर्च की मितत्वयिता–दोनों ही दृष्टि से उपयुक्त है।

वेदिका प्रणाली के आयोजन में निम्नलिखित मुख्य बातें तय की जाती हैं–

1. *जल मार्ग का चुनाव।*
2. *वेदिकाओं की स्थिति*
3. *वेदिकाओं की दिशा।*

जलमार्ग का चुनाव

किसी दिए गए वाह क्षेत्र के लिए वेदिका प्रणाली की योजना बनाते समय, सर्वप्रथम जलमार्ग का या निकास मार्ग का चुनाव किया जाता है। चूंकि समतल वेदिकाओं के लिए जलमार्ग की कोई खास आवश्यकता नहीं होती, अतः उनकी स्थिति एवं विन्यास सरल है। परंतु नाली वेदिकाओं के लिए उपयुक्त जलमार्गो का चुनाव अंत्यत महत्त्वपूर्ण हैं।

जलमार्ग के लिए अभिकल्प अपवाह का निर्धारण, उससे संबंधित सभी वेदिकाओं से प्रवाहित अपवाह जल की सम्मिलित मात्रा के आधार पर, किया जाता है। एक ही क्षेत्र में छोटी बढ़ी विभिन्न वेदिकाओं की उपस्थिति के कारण, विभिन्न वेदिका नालियों के लिए संकेंद्रण काल में भिन्नता हो सकती है, जिसके फलस्वरूप, परिमेय विधि द्वारा जलमार्ग के अधिकतम अपवाह दर के प्राक्कलन में त्रुटि हो सकती है।

जलमार्ग के रूप में मुख्यतः प्राकृतिक नाले, निर्मित नालियाँ, घासदार चरागाह या घास के मैदान, सड़कों के किनारे स्थिर खाईयाँ (सड़क निर्माण विभाग की अनुमति से) कम असुविधा हो, तथा वेदिकाओं को अनावश्यक रूप से अधिक लम्बा न बनाना पड़े।

वेदिकाओं की स्थिति

समुचित जलमार्ग की स्थिति निश्चित कर लेने के बाद, वेदिकाओं की स्थिति निश्चित करना दूसरा मुख्य कदम है। वेदिकाओं की स्थिति निम्नलिखित कारकों से प्रभावित होती है –

1. *भूमि का ढाल*
2. *भूमि की भौतिक दशा*
3. *अपरदन की तीव्रता*
4. *प्रस्तावित भूमि प्रयोग*

5. *वृक्ष, खड्ड आदि बाधाओं की उपस्थिति*
6. *पंक्तियों का विन्यास*
7. *वेदिकाओं के प्रकार*
8. *जल मार्ग की स्थिति*
9. *क्षेत्र सड़कें, बाढ़ या क्षेत्र सीमा की स्थिति, न्यूनतम देखरेख एवं समुचित अपरदन नियंत्रण आदि उत्तम वेदिका स्थिति के मुख्य लक्षण हैं।*

सामान्यतः सबसे ऊपरी वेदिका जिसे शीर्ष वेदिका कहा जाता है, सर्वप्रथम विन्यस्त की जाती है। शीर्ष–वेदिका प्रायः जल मार्ग के सिरे से प्रारम्भ होती है। इस बात का ध्यान अवश्य रखा जाना चाहिए कि इस वेदिका की स्थिति सर्वथा उपयुक्त जगह पर होनी चहिए, जिससे कि बहता हुआ अपवाह जल इसका शीर्षअतिक्रमण न कर सके, अन्यथा इसके बाद की निचली सभी वेदिकाओं के टूट जाने का संकट उपस्थित हो जाता है।

शीर्ष वेदिका की स्थिति निश्चित करने के लिए, निम्नलिखित सामान्य नियमों का अनुसरण किया जाना चाहिए –

क. *शीर्ष वेदिका के ऊपर का निकास क्षेत्र 1.25 हेक्टेयर से अधिक नहीं होना चाहिए।*

ख. *यदि शीर्ष किसी एक ही बिंदु पर स्थित है तो शीर्ष वेदिका की स्थिति उदग्र अंतराल से डेढ़ गुनी दूरी पर रखी जा सकती है।*

ग. *लंबे उद्रेखों या मेड़ों पर, जहां की वेदिकायें प्रायः उनके समानांतर होने लगती हैं, नियमित उदग्र दूरी प्रयोग की जा सकती है।*

घ. *यदि भूमि के ढाल में कही अचानक परिवर्तन दृष्टिगोचर हो तो शीर्घ वेदिका उस बिंदु से ठीक ऊपर स्थित की जानी चाहिए।*

शीर्ष वेदिका के नीचे वाले क्षेत्र में उपस्थित बाधाओं जैसे वृक्ष, खड्ड, गोलाश्म आदि के कारण, एक वेदिका वहां पर स्थित करना

आवश्यक हो जाता हैं, जिसको मुख्य वेदिका या कुंजी वेदिका कहते हैं। अन्य सभी वेदिकाओं की स्थितियाँ मुख्य वेदिका से ही निर्दिष्ट होती हैं। मुख्य वेदिका से ऊपर की वेदिकाएं, जो नियमित उदग्र अंतराल पर विन्यस्त की गई होती है, थोड़ा बहुत विचलित करके, पुनः समायोजित कर ली जाती हैं। ऐसा इसलिए किया जाता है, जिससे कि शीर्ष वेदिका को उचित स्थान पर स्थिर किया जा सके। मुख्य वेदिका से नीचे की अन्य सभी वेदिकाएं नियमित उदग्र अंतराल पर स्थित की जाती हैं।

बेंच वेदिकांए

इस प्रकार की वेदिकाओं में भूमि के ढाल पर ऐसे चबूतरों की एक शृंखला बनाई जाती है, जो सीढ़ियों को मिलाने वाले खड़े भाग या ऊर्ध्वाधर ढाल द्वारा अलग कर दिए जाते हैं। ये वस्तुतः भूमि के ढाल को कम कर देते हैं और सुरक्षित चबूतरों की लम्बी पट्टियों का निर्माण करते हैं। इनकी सीढ़ियों को मिलाने वाले खड़े भागों में कम से कम 1 : 1 का ढाल देना चाहिए और ये संबद्ध क्षेत्र में उगने वाली, गहरी जड़ों वाली तथा मृदा योजक घासों द्वारा रक्षित की जानी चाहिए। जहां पत्थर सुलभ हों, वहां इस कार्य के लिए पत्थर की दीवारें बनाई जा सकती हैं। इस प्रकार की वेदिका केवल 15 प्रतिशत से अधिक ढाल वाले और गहरी मृदाओं वाले उन स्थानों के लिए उपयुक्त होती हैं, जहां कृषि योग्य भूमि अपर्याप्त होती हैं।

समतल या लम्बाई की ओर ढालू बेंच वेदिकांए अनुप्रस्थ रूप में निम्न तीन प्रकार की होती हैं –

1. *समतल*
2. *बाहर की ओर ढाल*
3. *अंदर की ओर ढाल वाली*

सामान्यतः वेदिकाओं के बाहरी किनारों के साथ–साथ एक छोटी

मेंड़ बना देनी चाहिए जो नीचे से लगभग 5 फुट चौड़ी हो, ताकि बेंच वेदिकाओं की सतह पर एकत्र पानी किनारों के ऊपर से न बह सके।

सुगठित मेड़ों से युक्त समतल बेंच वदिकांए अत्यधिक अवशोषी मृदाओं पर तथा 30–35 इंच मध्यम वर्षा वाली मृदाओं में उपयोग होंगी। 30 इंच से कम वर्षा वाले क्षेत्रों में तथा अत्यधिक अवशोषी प्रकृति वाली मृदाओं पर बाहर की ओर ढाल वाली बेंच वेदिकांए उपयुक्त होंगी। 35 इंच से अधिक भारी वर्षा वाले भू–भागों के लिए और कम अन्तः स्रवप रखने वाली मृदाओं पर अन्दर की ओर ढाल बेंच उपयुक्त होंगी। अन्तिम प्रकार की बेंच वेदिकाओं में अन्दर की ओर ऐसा ढाल देना चाहिए कि अन्दर की मेड़ बाहरी मेड़ से 1 फुट नीची रहे।

बेंच वेदिकाओं के बीच ऊर्ध्वाधर दूरी मृदा की स्थानीय परिस्थितियों, ढाल वर्षा आदि तथा कृषि हेतु पर्याप्त और उपयुक्त चौड़ाई के आध ार पर लगभग ढाई–6 फुट रखी जा सकती हैं।

2. अवनालिका नियंत्रण

अवनालिका निवारण एवं नियंत्रण के सिद्धांत

अवनालिका निवारण का मतलब है कि अवनालिकाओं को बनने ही न दिये जाना, जबकि नियन्त्रण का संबंध उन उपचारात्मक उपायों से है जो अवनालिका अपरदन प्रांरभ हो चुकने के बाद उसे किसी अनुमेय सीमा के अन्दर रख सकें।

अवनालिका का निवारण, नियंत्रण की अपेक्षा अधिक सुगम एवं सस्ता होता है। यदि भूमि का उचित एवं बुद्धिसंगत उपयोग किया जाए तो सामान्य कृषि एवं संरक्षण प्रणालियां ही खड्डों के विकास को रोक देने के लिए पर्याप्त होती हैं, परंतु नियंत्रण उपायों में बहुत-सी संरक्षण रचनाओं का निर्माण आवश्यक हो जाता है, जिनमें खर्च एवं तकनीकी दक्षता दोनों की ही अधिक आवश्यकता पड़ती है। अतः अवनालिका को विकसित ही न होने देने के लिए निवारणात्मक उपायों का विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

नियंत्रण संबंधी उपायों को अपनाने से पहले यह ज्ञात कर लेना चाहिए कि इससे प्राप्त होने वाली सुरक्षा का आर्थिक मूल्य, नियंत्रण पर लगे खर्च के कम से कम बराबर या अधिक है कि नहीं। यदि नियंत्रण खर्च इतना अधिक पड़ता हो कि उसी तुलना में प्राप्त सुरक्षा का आर्थिक मूल्य बहुत कम पड़ता हो तो ऐसे अवनालिका नियंत्रण का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता।

अवनालिका नियंत्रण के उद्देश्य

अवनालिका नियंत्रण संबंधी उपायों के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1. *अवनालिका में अपवाह जल के अधिकतम बहाव दर को कम करना, और*
2. *अवनालिका मार्ग का स्थिरीकरण।*

उपर्युक्त दोनों उद्देश्यों की पूर्ति हेतु प्रयोग किए जाने वाले उपायों को निम्नलिखित तीन वर्गो में विभाजित किया जा सकता है–

1. *अपवाह जल का वाह क्षेत्र में अवरोध*
2. *अपवाह जल कर अपलरलिकर में पहुँचने के पूर्व विपथन और*
3. *अवनालिका नाली में अपवाह जल का सुरक्षात्मक ढंग से प्रवहण।*

अपवाह जल का वाह क्षेत्र में अवरोधन-

यह वास्तव में नियंत्रण के साथ–साथ एक निवारक उपाय भी है। इसका संबंध भूमि प्रबंधन एवं सस्य प्रबंधन की तमाम यांत्रिक व वानस्पतिक विधियों से है, जो अपवाह जल को अधिकाधिक मात्रा में भूमि के अंदर अंतःस्पंदन की क्रिया द्वारा प्रवेश करने एवं धारण किए जाने को विवश करती है। इनके अन्तर्गत सगोच्च मेंड़बंदी, वेदिका कृषि, पट्टिका कृषि समोच्च कृषि, भूपरिष्करण एवं संरक्षण, सस्यावर्तन तथा आवरण फसलें मुख्य हैं।

अपवाह जल का अवनालिका में पहुंचने के पूर्व विपथन-

वाह क्षेत्र में अपवाह जल के अवरोधन के पश्चात् अतिरिक्त मात्रा का सुरक्षात्मक वेग पर प्रवाहित होना आवश्यक है। नियंत्रण का सर्वाधिक प्रभावी उपाय यह कि अपवाह जल को अवनालिका में पहुंचाने से पूर्व ही अन्यत्र मोड़ दिया जाए। इसके लिए अवनालिका मूल के ऊनी विपथन नालियों का निर्माण किया जाता है।

अपवाह जल के विपथन के लिए प्रायः वेदिका नालियां तथा विपथन खाइयां प्रयोग की जाती हैं। इसका अभिकल्पन प्रायः 10 वर्षों की आवृत्ति वाले अधिकतम अपवाह दरों के लिए किया जाता है। अभिकल्पन तथा निर्माण की विधि घासदार जलमार्गों के अभिकल्पन एवं निर्माण की ही भांति हैं।

विपथन नाली की स्थिति प्रायः अवनालिका की परिपात ऊंचाई के कम से कम तीन गुनी दूरी पर होनी चाहिए। जब विपथन नाली किसी कर्षित भूमि के ठीक नीचे स्थित होती है तथा उस क्षेत्र में वर्षा बूंद अपरदन को रोकने का पर्याप्त उपाय नहीं किया गया होता है, तो अधिक संभावना यह रहती है कि अपवाह जल के साथ बहकर आए अवसाद मिट्टी से विपथन नाली भर जाने के कारण उसकी अपवाह वाहन क्षमता घट जाएगी। ऐसी स्थिति को रोकने के लिए विपथन नाली की स्थिति के ठीक ऊपरी क्षेत्र में एक स्थायी घास पट्टी स्थापित कर दी जाती है, जिसे निस्पंदन पट्टिका कहा जाता है। यह पट्टी, जल में बहकर आए अवसाद कणों को फांस लेती है। निस्यंदन पट्टिका की न्यूनतम चौड़ाई 15 मीटर रखी जानी चाहिए।

अवनालिका में अपवाह जल का सुरक्षात्मक ढंग से प्रवहण

उपर्युक्त दोनों उपायों के प्रयोग के बाद भी यदि सम्पूर्ण अपवाह जल का नियंत्रण न किया जा सके, और इस प्रकार खड्ड नाली में अतिरिक्त अपवाह का प्रवाहित होना अपरिहार्य हो जाए तो ऐसी स्थिति में इस प्रकार के उपाय किए जाने चाहिए, जिससे कि

दलहनें और लताएं

12. रेल क्लोवर	*ट्राइफोलियम प्रैटेन्स*
13. एक्साइक क्लोवर	*ट्राइफोलियम हाइब्रिहम*
14. अल्फा—अल्फा	*मेडिकागी सैटाइवा*
15. लेस्पेडेजा	*1. लेस्पेडेजा सेरीसिया*
	2. लेस्पेडेजा जन्सिया
16. कुद्जू	*प्यूरोपिया थमबर्जियाना*

वृक्ष और झाड़ियां

17. बबूल	*एकेसिया एरेबिका*
18. खैर	*एकेसिया कैटेचू*
19. साल्ट बुश	*एट्रीक्लैवस स्पीशीज*
20. सैडवार विलो	*सैलिक्स एक्जीगुआ*
21. ब्लैक लोकस्ट्स	*रोबिनिया स्यूडोएकेसिया*
22. रैसपवेबरी	*रूबस स्पीशीज़*
23. यूक्लिपट्स	*एक्लिपट्स स्पीशीज*
24. शीशम	*1. डैलबर्जिया सिस्सो*
	2. डैलबर्जिया लैटिफोलिया
25. प्रोसोपिस	*प्रोसोपिस स्पीशीजेरा*
26. बांस	*डेन्ड्रोकैलेमस स्ट्रिक्स*
27. नरकट	*एरण्डो होनक्स*
28. सदाबहार	*आइपोमिया कार्निया*
29. वाइटेक्स	*वाइटेक्स निगुण्डो*
30. मूंज	*सैक्करम मूंजा*
31. नीम	*एजेडिरेक्टा इन्डिका*
32. बकैन	*मिलिया एजैडिरेक्टा*

अतिरिक्त अपवाह जल खड्ड नाली में सुरक्षात्मक वेग पर प्रवाहित हो सके। इस प्रकार खड्ड को एक स्थायी जलमार्ग के रूप में विकसित कर देना चाहिए। खड्ड नाली के स्थिरीकरण एवं प्रवाह नियंत्रण हेतु निम्नलिखित उपाय किए जा सकते हैं–

1. *वनस्पति स्थापन, और*
2. *यांत्रिक रचनाओं का निर्माण*

वनस्पति स्थापन

नाली के स्थिरीकरण एवं अपवाह जल के सुरक्षित प्रवहण के लिए सर्वोत्तम उपाय वनस्पतियों की स्थापना है। वनस्पतियां निम्नलिखित दो प्रकार से सुरक्षा प्रदान करती हैं–

1. भूमि पृष्ठ को क्षरण के विरुद्ध आच्छादित करना, और
2. अवनालिका में द्रवीय प्रतिरोध उत्पन्न करके अपवाह वेग को कम करना, अवनालिका क्षेत्रों में वनस्पतियों की स्थापना निम्नलिखित दो प्रकार से हो सकती है–

क. *प्राकृतिक स्थापना और*
ख. *कृत्रिम स्थापना।*

यदि अपवाह जल को विपथित कर दिया गया है, और पशुओं की चराई प्रतिबंधित कर दी गई है तो खड्ड क्षेत्रों में प्राकृतिक वनस्पतियां धीरे–धीरे स्वतः उगना प्रारंभ हो जाती हैं। कुछ वर्षो में अवनालिका क्षेत्र विभिन्न प्राकर की घासों, लताओं, झाड़ियों आदि से आच्छादित हो जाता है। वनस्पतियों की वृद्धि में तीव्रता लाने के लिए खादों का प्रयोग किया जा सकता है।

चूंकि प्राकृतिक रूप से वनस्पति स्थापना का कार्य अत्यंत धीमा होता है, अतः कृत्रिम रूप से वनस्पति स्थापन पर विशेष रूप से बल दिया जाता है। इसके लिए उपयुक्त वनस्पतियों का चुनाव किया

ग. *वनस्पति*

जब तक घाटी में वृक्षों, झाड़ियों, लताओं और घास का एक अच्छा-सा वनस्पति वितान नहीं बन जाता, तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि अवनालिकाओं का नियंत्रण हो गया हैं। घटिया किस्म की मृदा पर घासों को उगने में काफी समय लगता है, किन्तु एक बार ठीक ढंग से उग जाने पर वे जल के तीव्र प्रवाह का भी सामना कर सकती हैं और तदनुसार अधिक अपवाह को संभाल सकती है। इस प्रकार वर्तमान अवनालिकाओं को नियंत्रित करने की सर्वोत्तम विधि वनस्पति वितान को पुनः स्थापित करना है, क्योंकि पौधों के अपरदनरोधी आवरण से न केवल कम खर्च में ही नियंत्रण हो जाता है, बल्कि इससे पर्याप्त फसल प्राप्त होती है और साथ ही बंजर भूमि से अतिरिक्त आय होने लगती है।

कुछ परिस्थितियों में यदि वनस्पति वृद्धि में बाधक कारण को दूर कर दिया जाए, तो उपयुक्त नियंत्रण के लिए आवश्यक सीमा तक पुनः वनस्पतियां उग जाती है। यदि वनस्पति वृद्धि के मार्ग में प्रमुख बाधा अत्यधिक चराई है, तो इसका एकमात्र उपाय अवनालिका के चारों ओर बाड़ लगा कर पशुओं को रोकना है। यदि अधिक अपवाह ने मूल वनस्पतियों को नष्ट और अवरूद्ध कर दिया है, तो अपवाह जल को निकास क्षेत्र पर नियंत्रित करना लाभप्रद हो सकता है। जिन स्थानों पर अपरदन के कारण अवनालिका खड़ी ढाल वाली और ढलवां किनारों वाली हो जाती है, वहां इन खड़े ढाल वाले किनारों वाली हो जाती है, वहां इन खड़े ढाल वाले किनारों को हल चलाकर या फावड़े से मृदा को काट कर, बुल्डोजर चलाकर या विस्फोट द्वारा बनाने और पौधों का उगना संभव बनाने के अलावा अपवाह जल को निकास क्षेत्र पर नियंत्रित करना भी आवश्यक होता है। यह स्पष्ट है कि पर्याप्त प्राकृतिक वनस्पतियों के पुनः उगने पर अपवाह नियंत्रण कम खर्च में ही हो जाता है। प्रायः सस्ते संरक्षी आवरण को प्राप्त करने की संभावना की उपेक्षा कर दी जाती है और संरचनाओं एवं

प्रतिरोपण में अनावश्यक खर्च कर दिया जाता है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि प्राकृतिक वनस्पतियों का पुनः उगना एक लंबी प्रक्रिया है और यह सभी परिस्थितियों में उपयुक्त भी नहीं होता।

अवनालिकाओं के नियंत्रण के लिए वनस्पति वितान पौधा लगाकर या बीज बोकर बनाया जा सकता है। वितान के लिए घासों या फलीदार पौधों के मिश्रण, वृक्षों, झाड़ियों और लताओं को अलग–अलग या सम्मिलत रूप से उगाया जा सकता है। सारणी 8.2 में अवनालिका नियंत्रण के लिए कुछ महत्वपूर्ण वनस्पतियों की सूची दी गई है। वनस्पतियों की किस्म का चयन अलग–अलग अवस्थाओं एवं आवश्यकताओं के आधार पर किया जाता है। यदि अवनालिका का निकास मार्ग के रूप में प्रयोग किया जाना है तो सामान्यतः उस अवनालिका का एक प्रमुख वितान घास हैं। तनेदार पौधों वाली भूमि की अपेक्षा घास की सतृण भूमि पर पानी अधिक सुरक्षापूर्ण ढंग से और अधिक तीव्रगति से बह सकता है। घास से अच्छे चरागहा बनते हैं। समान परिस्थितियों में अवनालिका युक्त क्षेत्रों में घास उगाने की अपक्षा वृक्षों और झाड़ियों को सरलतापूर्वक उगाया जा सकता है, किंतु जब तक नाली में बहने वाले पानी की मात्रा अपेक्षाकृत कम न हो, तब तक निकास मार्गो में इनका प्रयोग नही किया जाना चाहिए। जब अपरदित भूमियां फसल या घास उगाने के योग्य नहीं रहती तो उनको ठीक करने के लिए अन्य पौधों का प्रयोग किया जाता है।

इसके लिए आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण वृक्षों या घासों की उपयुक्त किस्मों की परीक्षा लेनी होगी और वनरोपण की विधियों एवं पौधशाला की तकनीकों का मानकीकरण करना होगा। आर्थिक
प्रदान न करने वाले पौधों को बोने की अपेक्षा कम
शीघ्र प्रतिफल प्रदान करने वाली
होगा। इसी प्रकार
का निर्मा

3. मेड़बन्दी

मृदा क्षरण के नियंत्रण में मेड़ों का विशेष महत्व है। मेंड़े वर्षा जल को रोककर उसे अंतःस्पंदित होने में सहायक करती हैं।

मेड़ों के प्रकार

भिन्न–भिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए क्षेत्र में भिन्न–भिन्न प्रकार की मेड़ों का निर्माण किया जाता है, जिनमें से निम्नलिखित मेड़े मुख्य रूप से प्रचलित हैं–

1. परिसर मेंड़

यह क्षेत्रीय सीमाओं को घेरने के लिए बनाई जाती हैं।

2. सीमांतर मेंड़

ये वे मेंड़ें हैं जो वाह क्षेत्र के सबसे निचले भागों में बनाई जाती हैं।

3. समोच्च मेंड़

इस प्रकार की मेंड़ें समोच्च रेखाओं (अर्थात् भूमि पृष्ठ पर एक समान ऊंचाई वाली बिंदुओं से होकर गुजरने वाली रखाओं) पर बनाई जाती हैं, तथा उनकी ऊंचाई प्रत्येक बिंदु पर, एक समान होती है।

4. प्रवणिता या ढालू मेंड़–

इन मेंड़ों की लंबाई में कुछ ढाल दे दिया जाता है, ताकि अपवाह जल की अतिरिक्त मात्रा, समुचित ढंग से किसी दिए गए जलमार्ग में विसर्जित की जा सके।

5. पार्श्व मेंड

ये मेंड समोच्च मेंड़ों की लंबाई के अभिलंब, अर्थात् भूमि ढाल की दिशा में, लगभग 300 मीटर के अन्तराल पर बनाई जाती हैं। इनका उद्देश्य समोच्च मेंडों के बीच अवरूद्ध अपवाह जल का अधिकाधिक रूप से समान क्षेत्रीय वितरण करना है।

उपर्युक्त प्रकारों में से, समोच्च एवं प्रवणित मेंड़े ही, भूमि संरक्षण की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हैं। अतः अगले अनुच्छेदों में इन्हीं दो प्रकारों का विस्तृत वर्णन किया जाएगा।

समोच्च मेंड़बंदी

अनुकूल नियतायें–समोच्च मेंड़बंदी उन्हीं क्षेत्रों के लिए उपयुक्त होती हैं जहां–

क. औसत वार्षिक वर्षा 750 मिमी से कम हो

ख. मिट्टी की गहराई 20 सेमी से अधिक तथा गठन दोमट या रेतीली दोमट हो, और उसमें स्थूल खंड तथ पाषाण आदि न हों।

ग. भूमि की अन्तःसरण क्षमता पर्याप्त हो और,

घ. भूमि की ढाल प्रवणता 7 प्रतिशत से कम हो।

समोच्च मेंड़ों के कार्य-

यद्यपि यह सही है कि मात्र मेंड़बंदी प्रणाली को अपनाकर भूमि की उत्पादकता में कोई प्रत्यक्ष वृद्धि नहीं की जा सकती, और न ही यह उत्पादनशील कृषि प्रणालियों का स्थान ही ले सकती हैं, फिर भी, यह विधि, क्षरण नियंत्रण की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। समोच्च मेंड़ों के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं–

1. *भूमि की ढाल लंबाई को विभाजित करना।*
2. *ढालु पृष्ठ पर, प्रवाहमान अपवाह जल को अवरूद्ध करके, भूमि में अंतःसरण व नमी सरंक्षण की संभावनाओं को बढ़ाना।*
3. *अतिरिक्त अपवाह जल को सुरक्षात्मक वेग पर, अन्यत्र विसर्जित करना और*
4. *वाह क्षेत्र के निम्नवर्ती भागों में जल मग्नता को रोकना।*

समोच्च मेंड़ो का अभिकल्पन

सर्वप्रथम मेंड़बंदी किए जाने वाले वाह क्षेत्र का सर्वेक्षण करके भूमि की स्थलाकृतिक एवं भौतिक दशाओं तथा क्षेत्र में विद्यमान वनस्पतियों, जलमार्गों, क्षरण चिन्हों, रास्तों आदि की सूचनाएं एकत्र कर ली जाती हैं। इन सूचनाओं के आधार पर ही उपयुक्त परिमाण की मेंड़ का अभिकल्प प्रस्तुत किया जाता है। अभिकल्पन में निम्नलिखित बातें निर्धारित की जाती हैं–

1. *ढाल की प्रवणता*
2. *अंतरण*
3. *मेंड़ का आकार व आकृति*
4. *मेंड़ की ऊंचाई*
5. *पार्श्व ढाल*
6. *शीर्ष चौड़ाई*
7. *पेंदा या आधार चौड़ाई*
8. *मेंड की अनुप्रस्थ काट*

मेंड़ों की स्थिति-

समोच्च मेंड़ों की अभिकल्प विशिष्टताएं निर्धारित कर देने के बाद भूमि पर मेंड़ों की वास्तविक स्थिति निश्चित की जाती है। शीर्ष मेंड़ की स्थिति सर्वप्रथम निश्चित की जाती है। समोच्च मेंड़बंदी प्रणाली में, इनका सबसे अधिक महत्व है, क्योंकि अन्य सभी निचली मेंड़ों की दृढ़ता इसी मेंड़ पर निर्भर है।

शीर्ष मेंड़ की स्थिति निश्चित करने के लिए, वे ही समान्य नियम अपनाएं जा सकते हैं जो शीर्ष वेदिका की स्थिति निश्चित करने के लिए अपनाएं जाते हैं।

अन्य मेंड़ों की स्थितियां भी प्रायः वैसे ही निर्धारित की जाती हैं, जैसे कूटक और नाली वेदिकाओं की।

समोच्च मेंड़ों की निशानबंदी

निशानबंदी के लिए तलमापी यंत्र, जैसे–वाई लेवल, डम्पी लेवल, टिल्टिग लेंवल, तथा "टी"–फ्रेम "ए" – फ्रेम आदि उपकरण प्रयोग किए जाते हैं। डम्पी व टिल्टिंग लेवल का प्रयोग अधिक वैज्ञानिक है।

निशानबंदी का कार्य, क्षेत्र के किनारे से प्रारंभ किया जाता है, तथा समोच्च रेखा पर 15–15 मीटर के अंतर पर, मेंड़ की पूरी लम्बाई खूटियों द्वारा चिन्हित कर ली जाती है। इस रेखा को मेंड़ रेखा कहा जाता हैं।

मेंड़ रेखा का पुनः संरेखण

मेंड़ों की स्थिति निश्चित रूप से समोच्च रेखओं पर ही होनी चाहिए, परंतु किसी खड़ड, गर्त, नाला अथवा मेंड आदि बाधाओं के उपस्थित होने के कारण, मेंड़ों की चिन्हित स्थितियों में कुछ आवश्यक विचलन देकर, पुनः संरेखित किया जाता है। इसके लिए अग्रलिखित सामान्य नियम काम में लाए जा सकते हैं–

1. *किसी संकीर्ण मेंड़ को पार करने के लिए अधिक से अधिक 15 सेमी का विचलन दिया जाना चाहिए।*
2. *किसी गर्त या खड़ड या नाला पार करने के लिए अधिकतम विचलन 30 सेमी दिया जाना चाहिए।*
3. *5 मीटर तक चौडी खड़ड या नाला पार करने के लिए अधिकतम विचलन 1.5 मी दिया जाना चाहिए।*

मेंड़ों का निर्माण

मेंड–रेखा, निर्मित की जाने वाली मेंड की चौड़ाई का ऊपरी

किनारा निर्धारित करती है। अतः इससे नीचे अनुप्रवाह क्षेत्र की ओर, अभिकल्प आधार चौड़ाई, मापकर "मारकर" द्वारा चिन्हित कर ली जाती है। मारकर लकड़ी का एक साधारण उपकरण होता है जिसके दोनों सिरों पर एक–एक खूंटी लगी होती हैं। खूटियों की आपसी दूरी, आधार–चौड़ाई के अनुसार समायोजित की जाती है।

मेंड़ की आधार चौड़ाई चिन्हित कर दिए जाने के बाद, मेंड़-स्थल पर उपस्थित घास, झाड़ी आदि साफ कर देना चाहिए, तथा मेंड़-स्थल को, हल अथवा फावड़े द्वारा, गोड़ देना चाहिए, जिससे कि भरी जाने वाली मिट्टी और मेंड़ स्थल की मिट्टी के बीच एक संसक्त संपर्क स्थापित हो सके।

अब, मेंड़ की पूरी लम्बाई में लगभग 30 मीटर के अंतराल पर अभिकल्प अनुप्रस्थ काट के फर्से खड़े कर लिए जाते हैं तथा इन्हीं के सहारे मेंड स्थल पर, मिट्टी की भराई की जाती है।

मेंड निर्माण के लिए मिट्टी का उत्खनन दो प्रकार से किया जा सकता है–

1. *खुरचनी विधि*
2. *रक्तान विधि*

खुरचनी विधि में, स्क्रेबर, बुलडोजर, मोटर ग्रेडर, आदि यन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। यह विधि उन स्थानों के लिए अधिक उपयुक्त है, जहां मजदूरों का अभाव तथा यंत्रों का प्रचलन अधिक है।

रक्तदान विधि में, मेंड के बगल में गड्ढे खोदे जाते हैं, जिन्हें रक्तान कहते हैं इन्हीं से मिट्टी उत्खनित करके, मेंड़ स्थल पर भरी जाती है। ये उथली और औसत गहराई की भूमियों में मेंड़ के ऊपरी क्षेत्र में तथा गहरी भूमियों में निचले क्षेत्र में, खोदे जाते हैं। मेंड स्थल और रक्तान के बीच लगभग 3 मीटर की पटरी छोड़ दी जाती है। रक्तानों का आकार सुविधानुसार 4x2x0.5 मीटर अथवा 8x4x0.25 मीटर रखा जाता है।

उत्खनन की चाहे जो विधि अपनाई जाए, उत्खनित मिट्टी को

लगभग 15सेमी. की पतली तहों में, एक समान फैलाकर, भली प्रकार कुटाई की जानी चाहिए। विचलन एवं पुनः संरेखण वाले बिन्दुओं पर अपेक्षाकृत अधिक भराई तथा कुटाई की जानी चाहिए। कुटाई इस प्रकार होनी चाहिए कि अनुप्रस्थ काट अभिकल्प आवश्यकताओं के अनुरूप हो, तथा मेंड़ की ऊंचाई प्रत्येक स्थान पर एक समान हो।

मेंड़ों पर घास स्थापन

मेंड़ों के शीर्ष, पार्श्व, ढालों तथा खुले सिरों पर, जलीय अपरदन एवं मेड़ों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए घासें लगा देनी चाहिए। कुछ प्रमुख उपयुक्त घास सारणी 8.3 में दी गई है।

सारणी - 8.3 : मेंड़ों के लिए कुछ प्रमुख उपयुक्त घासें

सामान्य नाम	वानस्पतिक नाम
1. दूब	*साइनोडन डक्टिलॉन*
2. ब्लू पैनिक	*पैनिकम एन्टीडोटेल*
3. पैरा	*ब्रैकिएरिया म्यूटिका*
4. बफैलो	*बकलोव हैक्टिल्वायड्स*
5. किकूयू	*पेनिसेटम क्लैडेस्टिन्यम*
6. गिनी	*पैनिकम मैक्सिमम*
7. डैलीस	*पैस्पेलम डाइलैटेटम*
8. रोडस	*क्लोरिस गयाना*
9. पतली नैपियर	*पैनिसेटम पौलिस्टेकिऑन*
10. स्टार	*साइनोडन प्लेक्टोस्टैकियम*
11. भावर	इयूरेलिओप्सिस बिगेटा
12. अंजन	*(i) सैंक्रस* *(ii) सैंक्रस सिलिएरिस*

मेंड़ों की ढाल प्रवणता

ढालू मेंड़ों में प्रवणता इतनी पर्याप्त रखी जानी चाहिए कि सारा का सारा अतिरिक्त अपवाह अक्षरणशील वेग पर, अन्यत्र विसृजन हो सके। प्रायः 0.2 से 0.5 प्रतिशत तक प्रवणता पूरी मेंड़ लंबाई में दी जाती हैं। भारी मिट्टी में प्रवणता अधिक, तथा हल्की मिट्टी में कम रखी जाती है।

प्रवणता दो प्रकार की हो सकती है –

1. *एक समान प्रवणता*
2. *परिवर्ती प्रवण्ता।*

जब ढालू मेंड़ की लंबाई 125 मीटर से अधिक होती है तो ऊपर की तरफ प्रवणता अधिक तथा नीचे की तरफ अपेक्षाकृत कम रखी जाती है। परिवर्ती प्रवणता से मुख्य लाभ यह है कि मेंड़ के निचले भाग में अपवाह जल का संकेंद्रण अधिक होते हुए भी, जल निकास शीघ्रता से होता है तथा मेंड़ों के टूटने का भय नहीं रहता।

मेंड़ों की स्थिति एवं उनका विन्यास, समोच्च मेंडों की ही भांति किया जाता है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि ढालू मेंड़ों द्वारा प्रवाहित अतिरिक्त अपवाह के संतोषजनक निस्सारण के लिए, समुचित क्षमता वाले जल मार्ग की व्यवस्था की जानी चाहिए।

समोच्च एवं प्रवणिता दोनों ही प्रकार की मेंड़ों को वर्षा, बूंद एवं अल्पसरित क्षरण से बचाने, तथा मेंड़ों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए शीर्ष एवं पार्श्व ढालों पर, घासें स्थापित की जानी चहिए।

मेंड़ों में यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होने वाली टूट-फूट एवं चूहों आदि के बिलों को बराबर कर देना चाहिए।

घासदार जल मार्गों का उपयोग

मृदा क्षरण के नियंत्रण में घासदार जलमार्गो की विशेष भूमिका है। अपवाह जल निकास की दृष्टि से घासदार जल मार्ग बड़े

उपयोगी हैं। ढालू भूमियों से अतिरिक्त अपवाह जल का निष्कासन निम्नवर्ती स्थानों में सुरक्षात्मक वेग पर होना चाहिए। भूमि की स्थलाकृति, प्रयुक्त संरक्षण प्रणालियां जैसे समोच्च कूड़, वैदिकाएं आदि वहाव के संकेंद्रण में महत्वपूर्ण योगदान दे सकती है। लगभग 1.4 घनमीटर प्रति सेकंड की दर से प्रवाहमान जल, जो 5 प्रतिशत ढाल पर 30 मी. की लंबाई में बह रहा है, 28 अश्व शक्ति से अधिक ऊर्जा उत्पन्न करता है। यह ऊर्जा अनाच्छादित भूमियों का गंभीर रूप से अपरदन कर सकती है। इस ऊर्जा को विक्षेपित करने के लिए पक्की नालियां सबसे अधिक उपयुक्त तो होती हैं, परंतु बहुत मंहगी पड़ती हैं। अतः मितव्ययिता की दृष्टि से घासदार जलमार्गो का चुनाव अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त है।

घासदार जलमार्गों का प्रयोग वेदिकायित समोच्च क्षेत्रों, विपथन नालियों, जलाशयों के संकट कालीन उत्प्लव मार्गों आदि द्वारा प्रवाहित अपवाह को सुरक्षापूर्वक अन्यत्र निष्कासित करने के लिए किया जाता हैं।

बहाव का प्राक्कलन

घासदार जलमार्ग के अभिकल्पन के पूर्व सम्पूर्ण बाढ़ क्षेत्र से प्रत्याशित अधिकतम अपवाह दर का पूर्वकथन आवश्यक होता है। सामान्यतः दस वर्षीय आवृत्ति वाले प्रवात के आधार पर घासदार नाली अभिकल्पित की जाती है। अप्रत्याशित अधिकतम अपवाह जल का सही सही प्राक्कलन ही नाली की अभिकल्प क्षमता का आधार है। इसे निर्धारित करने के लिए प्रायः परिमेय विधि प्रयोग की जाती हैं।

जलमार्ग की आकृति

घासदार नाली की अनुप्रस्थ काट की आकृति प्रायः तीन प्रकार की होती हैं–

1. *समलम्बाकार*

2. *त्रिभुजाकार*
3. *परवलयिक*

नाली की आकृति का चुनाव कई बातों पर निर्भर है। प्राकृतिक जलमार्ग सामान्यतः परवलयिक आकृति के होते हैं, जबकि यंत्र निर्मित जलमार्ग की आकृति प्रायः समलम्बाकार अथवा त्रिभुजाकार रखी जाती है। समलंबाकार नाली के निर्माण में त्रिभुजाकार आकृति वाली नाली की अपेक्षा कम गहराई उत्खनित करनी पड़ती है। साथ ही, इसमें अपवाद निक्षेपण भी मंद वेग पर अधिक होता है। त्रिभुजाकार नालियां अवसादन को कम करती हैं, परंतु तीव्र जल बहाव की दशा में, उनके पेंदा (आधार) क्षतिग्रस्त हो सकते हैं।

परवलयिक नालियां अधिक प्राकृतिक एवं अनुकूल प्रतीत होती हैं। समलम्बाकार तथा त्रिभुजाकार नालियां भी अवसाद निक्षेपण और तटक्षरण के फलस्वरूप धीरे–धीरे परवलयिक आकृति की हो जाती हैं। तीनों प्रकार की नालियों के पार्श्व ढाल में क्षैतिज और उदग्र भुजाओं का अनुपात प्रायः 4:1 या अधिक रखा जाता हैं। इससे नाली की आकृति में स्थिरता आती है, तथा कृषि यंत्रों को ले जाने में भी सुविधा होती है।

उपयुक्त घासों का चुनाव

जल मार्गों में स्थापित की जाने वाली घासों का चुनाव निम्नलिखित बातों पर निर्भर है –

1. *भूमि की दशा*
2. *जलवायु*
3. *अपवाह जल की अवधि, मात्रा और वेग*
4. *घासों की सुलभता एवं स्थापित होने की सुगमता*
5. *यथाशीघ्र उत्तम आवरण स्थापित करने की क्षमता*

6. *घासों के बीज, चारे आदि की घरेलू आवश्यकताओं में उपयोगिता*

7. *घासों का समीपवर्ती क्षेत्रों में फैलाव और*

8. *अवसाद रोकने की क्षमता।*

अभिकल्प वेग

इनमें कोई संदेह नहीं कि घासों की क्षरणरोधन क्षमता सीमित होती है। अतः एक ऐसे वेग का निर्धारण आवश्यक है, जिससे अधिक वेग, क्षरण नियंत्रण की दृष्टि से, अनुमत नही किया जाना चाहिए। इस वेग को ही अनुमेय वेग कहते हैं। यह घास की किस्म, दशा और सघनता तथा भूमि की क्षरणीयता पर निर्भर है।

अभिकल्प वेग के निर्धारण में, निम्नलिखित सामान्य नियम काम में ला जा सकते हैं –

1. *एक मीटर प्रति सेकंड अनुमेय वेग, उन जलमार्गो में अनुमत किया जाना चाहिए, जिनकी जलवायु एवं भूमि की दशाएं घास स्थापना की दृष्टि से बहुत अनुकूल नहीं हैं।*

2. *1.25 मीटर प्रति सेकंड वेग उन नालियों के लिए अनुमत किया जाना चाहिए, जिनमें घास आवरण भली प्रकार स्थापित किया जा सकता है।*

3. *1.5 मीटर प्रति सेकंड अनुमेय वेग उन नालियों में संस्तुत किया जाना चाहिए, जिनमें अच्छा खासा घास आवरण स्थापित हो सकता है अथवा आवरण स्थापित होने तक, अपवाह जल को अन्यत्र विपथित कर देने की सुविधा हो।*

4. *2 मीटर प्रति सेकंड का अनुमेय वेग उन जल मार्गों के लिए प्रयोग किया जाना चाहिए, जहां अति उत्तम प्रकार का घास आवरण स्थापित हो चुका है। वैसे, इस दशा में जलमार्ग के अनुक्षरण पर विशेष ध्यान देना पड़ सकता है।*

किसी भी दशा में घासदार जलमार्ग में, 2.5 मीटर प्रति सेकंड से अधिक वेग अनुमत नहीं किया जाना चाहिए। औसत दशाओं में अधिकतम अनुमत अभिकल्प वेग 1.25 मीटर प्रति सेकंड रखा जाना चाहिए।

अनुमत वेग, नाली पेंदे (आधार) के ढाल से भी प्रभावित होता है।

अधिक वेग ढालू नालियों में प्रवाहमान अपवाह जल के वेग में विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है, जिससे अपरदन का संकट उपस्थित हो सकता हैं।

विभिन्न प्रकार की घासों एवं भूमि दशाओं के लिए, अनुमेय वेग भिन्न–भिन्न हो सकता है।

ढाल प्रवणता

जलमार्ग की ढाल प्रवणता, बहाव के वेग और घास की प्रतिरोधन क्षमता को प्रभावित करती है। किसी भी परिस्थिति में नाली प्रवणता 10 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए। सुरक्षा की दृष्टि से, 5 प्रतिशत तक प्रवणता अधिक उपयुक्त होती है। अपवाह जल को अधिक सुरक्षा के साथ जलमार्ग में प्रवाहित करने के उद्‌देश्य से, एक विपथन खाई का निर्माण करना चाहिए जिसमें जलमार्ग क्षमता से अधिक अपवाह इसके द्‌वारा अन्तः रोपित किया जा सके।

सारणी - 8.4 : जलमार्गों के लिए प्रयोग की जाने वाली घासें

क्र.सं.	सामान्य नाम	वानस्पतिक नाम
1.	बफैलो घास (आस्ट्रेलिया, अमेरिका) सेंट आगस्टाइम घास (पं. अफ्रीका) क्रैब घास (जमैका)	*1. स्टेनोटैप्रस सेकन्डेटम* *2. बकलोव डेक्टिल्वाइड्स*
2.	केन्टकी ब्लू घास	*पोवा प्रेटेन्सिस*
3.	चिकनी ब्रोम घास	*ब्रोमसइनर्मिस*

4.	ब्लू ग्रामा	*बौटिलोवा ग्रैसिलिस*
5.	पेस्क्यू घास	*पेस्टका इलैटिऑर*
6.	ह्वीट घास	*एग्रोपाइरन स्पीशीज*
7.	स्वाजीलैंड फिंगर घास	*डिजीटोरिया स्वाजीलेन्डेन्सिस*
8.	विविंग लप घास	*इग्रैग्रस्टिस कर्बुला*
9.	किकूयू घास	*पेनीसेटम क्लैन्डेस्टिनम*
10.	कैनरी घास	*फैलोरिस कैनेरियेन्सिस*

उपर्युक्त घासों के अतिरिक्त निम्नलिखित घासें भी जलमार्गों में सफलतापूर्वक उगाई जा सकती हैं–

1. पैरा

2. स्टर

3. दूब

स. वन विज्ञान पर आधारित उपाय

वनों की मृदा–क्षरण की नियंत्रण में प्रभावकारी भूमिका रही है। पेड़ों की पत्तियां और शाखाए, झाड़ियां और घासें वर्षा की बौछारों को भूमि पर गिरने से रोक देती हैं और भूमि पर पौधों की बिछाली के साथ–साथ वर्षा को मृदा कणों का अपरदन करने से रोकती हैं। इसके परिणामस्वरूप भूमि की सतह के रन्ध्र बंद हो जाते हैं और पानी पौधों की जड़ें और विभिन्न जंतुओं व कीड़ों के द्वारा बनाए गए छिद्रों से भूमि के भीतर रिस जाता हैं। अच्छे वनस्पति आवरण रखने वाली भूमि का अपरदन सरलता से नहीं होता है। इस प्रकार की भूमि में वर्षा का जल उन नदियों में भी जल्दी पहुंचने से रुकता है जिनके लबालब भरने से बाढ़ आ जाती है। यदि कृषिगत भूमि को उनकी क्षमता के अनुसार प्रयुक्त किया जाता है अर्थात् वनों के लिए उपयुक्त भूमि पर वृक्षों की फसलें उगाई जाती है और चरागाहों के लिए

उपयुक्त भूमि में घासें उगाई जाती हैं तो अकालों और बाढ़ों से होने वाली क्षतियां काफी घट जाने की संभावना हो जाती है। वनरोपण के लिए अत्यधिक उपयुक्त भूमि को संभवतः वन भूमि कहना उचित होगा।

भौतिक और आर्थिक कारकों की दृष्टि से वन भूमियों को निम्नलिखित तीन विस्तृत भागों में विभाजित किया जा सकता है:-

1. कुछ भूमियों के इस प्रकार के भौतिक लक्षण होते हैं कि उनमें स्थायी रूप से वन लगे होने चाहिए, ताकि स्वयं भूमि को अथवा उसके नीचे की जलधारा को सुरक्षित रखा जा सके। इस वर्ग में न्यूनतम अरक्षित सुरक्षित वन क्षेत्र को भी सम्मिलित किया जाता है जिसमें कृषि के लिए अत्यधिक ढालू भूमि, खड्ड, पहाड़ियां और पर्वत आ जाते हैं।

2. इस वर्ग में वह भूमि आती है, जो वन या वनीय चरागाह के अतिरिक्त किसी अन्य उपयोग में नहीं आ सकती। इस प्रकार की भूमि के कुछ भौतिक अभिलक्षणों को बिना किसी बड़े खर्चे के बदला नहीं जा सकता है। उदाहरणार्थ वनों की दलदली व क्षारीय भूमि और रेत के टीलों को अगर सुधारा जाए, तब ही उनको चरागाह और खेती के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है।

3. वह भूमि जिसे आर्थिक और सामाजिक कारणों से वन लगाने के अलावा किसी अन्य कार्य के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार की भूमि में गांव की सम्मिलित भूमि, सड़कों, नहरों तथा रेलवे-लाइन के आस-पास की भूमियां आती हैं।

वन-रोपण

यदि उपर्युक्त तीन वर्गों में से किसी भी वर्ग में आने वाली वन भूमि को क्षरण से बचाने के लिए पहले से पर्याप्त वृक्षरोपण नही किया गया है और क्षेत्र पर प्राकृतिक वनस्पतियों का आवरण छाया है, तो

उस पर वन लगा दिया जाना चाहिए। किसी क्षेत्र को वनस्पतियों से ढकने की सबसे सस्ती विधि चराई पर पाबंदी लगा देना है।

जाति चयन

अपने जैव अंश और शिथिल संरचना के कारण पृष्ठ मृदा वृक्षों की संतोषजनक वृद्धि के लिए उतनी ही महत्वपूर्ण है, जितनी कि कृषि फसलों के लिए। फिर भी प्रायः यह देखा गया है कि वृक्षारोपण स्थलों पर ऊपरी मृदा बहुत कम या बिल्कुल भी नही होती है। ऐसी अवस्थाओं में अपरदन लगातार सक्रिय रहेगा और वृक्षों के प्रतिरोपित पौधों की उत्तर जीविता और वृद्धि खतरे में पड़ जाएगी। इस प्रकार के पौधे लगाने के लिए प्रत्येक अवस्था में जीवित रहने वाली जातियों को चुना जाना स्वाभाविक होगा और इनसे किसी प्रकार के प्रतिफल की आशा नहीं करनी होगी।

वृक्षों के प्रतिरोपण का उद्देश्य भूमि को अपरदन से बचाने के लिए संरक्षी, जल्दी उगने वाली वनस्पति का आवरण प्रदान करना तथा कुछ उपयोगी सामग्रियों, जैसे घास, बांस और ईधन को उत्पन्न करना है। जहां तक संभव हो, वृक्षों की उपयोगी स्थानीय जातियों को ही रोपा जाना चाहिए, किंतु जहां वृक्षों की विदेशी जातियां उत्तम सिद्ध हो, उनको ही प्राथमिकता दी जानी चाहिए। अंतिम रूप से चयन करने से पूर्व वृक्षों की वृद्धि को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। अंतिम रूप से चयन करने से पूर्व वृक्षों की वृद्धि को प्रभावित करने वाले सभी कारकों को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए।

सीधी बोआई के लिए बीज, कलमें, जड़ और प्ररोह की कलमें, पौधशाला में तैयार की गई पौध तथा प्रतिरोपण के लिए प्राकृतिक रूप से उगे हुए पौधे वनों के प्रतिरोपण में प्रयुक्त होने वाली विभिप्न सामगियां हैं। प्रतिरोपण के लिए ऐसी सामग्री चुननी चाहिए, जिसमें संपूर्ण क्रिया पर कम से कम लागत आए और संपूर्ण आवश्यकता पूरी हो जाए।

पौधशालाओं को यथासंभव रोपण स्थली के निकट बनाना चाहिए। इससे पौधशाला की क्यारियों से पौध को खोदने और उनके रापेण स्थली तक पहुंचने के बीच का अंतराल कम हो जाएगा। फलतः जड़ों पर कम से कम धूप भगेगी और पौध शीघ्र ही अपनी जड़ें जमा सकेंगी।

यदि बीजों का प्रयोग किया जाना है तो उन्हें मध्यम आयु के उत्तम वृक्षों से तथा रोपण स्थल के अनुकूल जलवायु वाले स्थलों से प्राप्त किया जाना चाहिए।

रोपण सामग्री का सावधानी से प्रयोग करना चाहिए। पौधों को जितनी भी बार मिट्टी से बाहर निकाला जाता है, छांटा जाता है, उनकी कोटि का निर्धारण किया जाता है, बंडलों में बांधकर ले जाया जाता है और उन्हें रोपण क्षेत्र में खोलकर प्रतिरोपित किया जाता है, उतनी ही हानि का भय बना रहता है। कुछ पौधे जड़ों या प्ररोहों के सूखने, अत्यधिक गर्मी, हिमीकरण, टूट–फूट या कवक के आक्रमण के कारण मर सकते हैं। क्षतियों को कम करने की दृष्टि से पौध /नर्सरी के निकट ही सुलभ होनी चाहिए। पौध निकालने के बाद उसे प्रतिरोपित करने में देरी नहीं होनी चाहिए। आनावश्यक रखरखाव में समय बर्बाद नहीं किया जाना चाहिए। पौध की जड़ों को गीला रखना चाहिए और सूर्य की सीधी किरणों से बचाना चाहिए। प्रतिरोपण के लिए निकाली गई पौध को बोरों से लपेटकर तंथा कुछ इंच तक पानी से भरी या लगातार नमी से युक्त प्रतिरोपण बाल्टी में रखकर शीघ्र ही नर्सरी पर ले जाना चाहिए।

नर्सरी तैयार करना

हमारे दशे में फसल की कटाई के बाद नर्सरी में एकत्रित कूड़ा–करकट में आग लगाने की प्रणाली प्रचलित है। यह प्रणाली अब वांछनीय नहीं मानी जाती है। किंतु अनुभव से पता चलता है कि आग कितनी तेज होगी, नर्सरी में खरपतवारों की समस्या उतनी ही कम

होगी।

यदि संभव हो, तो शुष्क और उप आर्द्र क्षेत्रों में भूमि की जुताई की जानी चाहिए। प्रतिरोपण से एक वर्ष पूर्व नर्सरी को गर्मियों में परती छोड़ कर मृदा में सुलभ नमी की मात्रा को बढ़ा देना चाहिए, ताकि वृक्षों की बढ़वार में सहायता मिल सके। आर्द्र स्थानों में वर्षा का प्रभाव बढ़ जाता है और रोपण स्थली में समोच्च कूड़ बनाने से पृष्ठ और रिल क्षरण कम हो जाता है। समोच्च कूड़ मिट्टी को ढाल पर नीचे की ओर डालना चाहिए, ताकि इसकी जल धाराण क्षमता बढ़ सके । कूड़ को कुछ–कुछ फुट की दूरी पर मिट्टी के बांध या मेड़ों से. बंद कर देना चाहिए ताकि वर्षा के जल को नीचे की ओर बहने और खेत में अवनालिकाएं बनाने से रोका जा सके। कूड़ों के बीच की दूरी 9–10 फुट होनी चाहिए तथा वृक्षों को कूड़ों में, कूड़ के किनारे पर या मेड़ पर रोपना चाहिए। गहरी जुताई विशेष रूप से समोच्च रेखा पर नमी बढ़ाने में उपयोगी हो सकती है। हल्के ढालों पर थाले बनाए जा सकते हैं। कम वर्षा वाले इलाकों में पास की भूमियों तथा सड़क के किनारे की निकास नालियों से सतही अपवाह को कभी–कभी मेड़ों से वृक्षों की नर्सरी की ओर मोड़ लिया जाता है।

पौधों के चारों ओर आर्द्रता के संरक्षण के लिए भूसे, पत्तीदार कूड़े करकट या अन्य वनस्पति पदार्थों की सहायता से भी पलवार बनाए जा सकते हैं। अवनालिका युक्त भूमि में प्रायः भू–भाग को तैयार करने के लिए पानी के बहाव के समाकोणिक अस्थायी बांधों को बनाना आवश्यक हो जाता है, ताकि मृदा अपरदन को रोका जा सके और रोपण स्थली के लिए भलयुक्त क्यारियां बनाई जा सकें। अवनालिका के किनारं को हलन चला कर या गुड़ाई करके अधिक स्थायी ढालों में परिवर्तित किया जा सकता है। मृदा को अस्थायी स्थायित्व प्रदान करने के लिए पानी को अवनालिका शीर्ष से कुछ दूर ऊपर की ओर मोड़ना पड़ सकता है, ताकि प्रतिरोपित पौध बहकर नष्ट न हो जाएं अथवा अनुर्वर मृदा में न दब जाएं।

हल्की मृदाओं वाले रोपण क्षेत्र में बीज को बिखेर कर भी बोया जा सकता है। यह एक बहुत ही सस्ती विधि है, भले ही इस विधि से बोआई करने में बीज अपेक्षाकृत अधिक लगता है। भूमि की पट्टियों में गुड़ाई की जा सकती है और बीज को पंक्ति में या बिखेर कर बोया जा सकता है। पट्टियों के बीच की दूरी 8–10 फुट रखी जा सकती है। यदि पट्टियां बनाने पर अधिक लागत आती हो, तो खेत को खंडों में बांटकर बोआई की जा सकती है और उन खंडों को खूटियां गाड़कर पृथक् किया जा सकता है। यदि समोच्च खाइयां बनाई गई हों तो बोआई खाइयों में या गुलों पर की जा सकती हैं।

प्रतिरोपण का मौसम

यदि सिंचाई की समुचित व्यवस्था हो, तो संपूर्ण पौधों या जड़ और प्ररोह की कलमों को मार्च या अप्रैल के प्रारम्भ में रोपना चाहिए। यदि सिंचाई की व्यवस्था न हो, तो पौध रोपण यथासंभव बरसात के प्रारम्भ में शुरू कर देना चाहिए।

पौधे का वृद्धि काल बहुत छोटा होता है, इसलिए यह आवश्यक है कि बरसात के समाप्त होने से पूर्व उनकी जड़ों के विकास के लिए यथासंभव अधिक से अधिक समय दिया जाए, ताकि वे आगामी जाड़े और गर्मी के लम्बे सूखे मौसम को सहन कर सकें।

रोपाई बरसात प्रारंभ होने के 115 दिनों के भीतर ही हो जानी चहिए।

रोपाई के सामान्य नियम

प्रथम वर्धन काल में यह आवश्यक है कि पौधे की जड़ें उस मृदा संस्तर तक पहुंच जाएं, जहां उनको मानूसन से पहले के गर्म मौसम से अपने आपको बचाने के लिए नमी प्राप्त हो सके। इसके लिए यह आवश्यक है कि जड़ों और प्ररोहों की कलमों का प्रयोग किया जाए तथा खेत की अच्छी तरह से निराई-गुड़ाई की जाए।

पौध को रोपते समय इस बात की पूरी देखभाल कर लेनी चाहिए कि उनकी स्कन्द मूल संधि की स्थिति रोपण स्थली में भी वही रहे जैसी कि पौदशाला में थी। जड़ों को उनकी स्वाभाविक स्थिति में ही रखना चाहिए तथा उन्हें किसी भी तरह से अव्यवस्थित नहीं करना चाहिए।

रोपण गढ्ढों को भरने के लिए पृष्ठ मृदा का प्रयोग करना चाहिए और मृदा को पौधों के चारों और भरकर पैरों से दबा देना चाहिए। संपूर्ण पौध को जड़ों में लगी हुई मिट्टी सहित रोपन या तैयार गड्ढों में या रोपई से कुछ पहले चोबदार लकड़ी या सब्बल, फावड़े या बांस की छड़ों से खोदे गए गढ्ढों में मिट्टी रहित जड़ों वाले पौधों को रोपना ही रापाई की प्रचलित सामान्य विधि है। पौधों को तैयार गढ्ढों में जड़ में लगी मिट्टी सहित रोपना अधिक मंहगा पड़ता है। किंतु इस विधि में सफलता अवश्यंभावी है।

वन लगाने की उस "तौंग्य" विधि को भी लाभप्रद ढंग से अपनाया जा सकता है जिसके अंतर्गत वन फसलों की कृषि फसलों के साथ–साथ बोया जाता है।

रोपित वन की देखभाल

सभी रोपणस्थलियों को पशुओं द्वारा चरे जाने और आग द्वारा नष्ट किए जाने से बचाना चाहिए। यदि रोपणस्थली के चारों ओर कांटेदार तार या कांटों की बाड़ लगा दी जाए या खाई खोद दी जाए तो रोपणस्थली को पशुओं के प्रवेश से बचाया जा सकता है। रोपणस्थली और वन क्षेत्र के बीच सामान्यतः 10–15 फुट चौड़े अग्निरोधी मार्ग बनाकर तथा अग्नि शामकों की व्यवस्था करके आग के खतरों से बचान किया जा सकता है। इन अग्निरोधी मार्गो पर किसी प्रकार की वनस्पति नहीं रहने दी जाती और यदि आवश्यक हो तो सभी ज्वलनशील सामग्री को निराई द्वारा साफ कर दिया जाता है।

वन रोपण की उपयोगी जातियां

वनरोपण के लिए उपयोगी कुछ जातियां निम्नलिखित है:

1. *टैक्टोना ग्रेन्डिस (सागौन)*
2. *शोरिया रोबस्ट (साल)*
3. *डेल्बर्जिया सिसू (शीशम)*
4. *अकेशिया अरैबिका (बबूल)*
5. *आर्टोकार्षस हिसोंटा*
6. *आर्टोकार्पस इन्टिग्रिफोलिआ (कैथ)*
7. *मंजीफेरा इन्डिका (आम)*
8. *टर्मिनेलिआ टोमेन्टोसा*
9. *टर्मिनेलिआ अर्जुना (अर्जन)*
10. *एजादिकराक्टा इण्डिका (नीम)*
11. *डेल्बर्जिया लैटीफोलिया*
12. *मेलाइना आर्बेरिया*
13. *टेराकार्पस मार्सूपियम*

जब वृक्षों के विशेष रुप से ईंधन के लिए ही बोना हो, तो इनमें से किसी भी जाति को चुना जा सकता है–

1. *टैमरिन्डस इन्डिका (इमली)*
2. *कैसिया सिआमिआ*
3. *प्रोसापिस जूलिफ्लोरा (जंगल जलेबी)*
4. *यूकेलिप्टस स्पीशीज*
5. *एल्बिजिया लैबेक (सिरस)*

6. *ऐल्बिजिया प्रोसेरा (सफेद सिरस)*
7. *ऐल्बिजिया ओडोरेटीसिमा (काली सिरस)*
8. *ऐल्बिलिया अमेरा*
9. *पौन्गोमिआ ग्लेब्रा (करंज)*
10. *पिथीकोलोबियम डल्सिस (जंगल जलेबी)*
11. *अकेशिया कैटूचे (कत्था)*
12. *अकेशिया मोलिसिमा*
13. *अकेशिया मोलिसिमा*
14. *अकेशिया ल्यूकोफिलआ (सफेद कीकर)*
15. *अकेशिया मोलिनिफर्मिस*

हरी खाद के रूप में उगाई जाने वाली वृक्षों की जातियां निम्न हैं–

1. *गिलरिसिडिया मैकुलेटा*
2. *इन्डिगोफेरा टिस्मैनी*
3. *पौन्गोमिआ ग्लेब्रा*
4. *डैलोनिक्स इलैटा*
5. *कैसिया आंरशीकुलेटा*
6. *सिस्बानिया ऐकुलेएटा*
7. *ऐल्बिलिया स्पिशीज़ (सिरस की जातियां)*
8. *साइमोपसिस सोरैलिओहिस*

वायुवीय अपरदन प्रबंधन

वायुवीय अपरदन के प्रबंधन में वायुवीय अपरदन को प्रभावित करने वाले कारकों का विशेष महत्त्व है। ये महत्त्वपूर्ण कारक हैं –

वायु, भू–सतह की प्रकृति और मृदा प्रकार। मृदा प्रकार में मूल परिवर्तन लाना बहुत हद तक संभव नही है। कुछ हद तक कार्बनिक पदार्थों के प्रयोग से मृदा संरचना में कुछ अंतर अवश्य लाया जा सकता है, वायु की गति में कमी लाने के लिए कुछ उपाय किए जा सकते हैं एवं भूमि की सतह की प्रकृति में वनस्पति एवं भू–परिष्करण के द्वारा संभव है।

(क) वायु–वेग को सीमित करने वाले उपाय

1. वायुरोधकों एवं वायुरोधी पट्टियों का उपयोग

वायुरोधकों एवं वायुरोधी पट्टियों के द्वारा वायु की गति को सीमित किया जा सकता है। वायुरोधकों का उपयोग फार्म प्रतिष्ठानों की रक्षा के लिए किया जाता है, जबकि वायु अपरदन से खेतों के बचाव के लिए वायुरोधी पट्टियां उपयुक्त होती हैं। उपर्युक्त कार्य के लिए कम वर्षा वाले इलाकों में बहुत से वृक्षों एवं झाड़ियों का उपयोग सफलतापूर्वक किया जाता हैं। ये वायुरोधी वृक्ष एवं झाड़ियां वायु वेग को सीमित करती हैं, उनके मार्ग को परिवर्तित कर देती हैं, गर्म हवाओं के तापमान को घटाती हैं एवं ठंडी हवाओं के बुरे प्रभावों को कम करती हैं। सबसे महत्वपूर्ण भूमिका इनकी यह होती है कि मिट्टी को अपरदित होने से बचाती है। वायु वेग सीमित हो जाता है तो मृदा जल का वाष्पीकरण रुक जाता है और इसका परिणाम यह होता है कि काफी मात्रा में मृदा जल उत्पादन के लिए उपलब्ध हो जाता है।

वायुरोधकों एवं वायुरोधी पट्टियों की कार्यकारी क्षमता उनकी सघनता एवं ऊंचाई पर निर्भर करती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि अपनी ऊंचाई के पचास गुनी दूरी तक इनका प्रभाव पड़ता है। वैसे व्यवहार में ऊंचाई की दस से बीस गूनी दूरी को प्रभावकारी क्षेत्र माना जाता है।

वायुरोधीपट्टियों को खेत के उस किनारे पर रखते हैं, जिस तरफ से हवा सामान्यतः आया करती है। ये पट्टियां हवा की दिशा

से 90 का कोण बनाती हैं।

वायुवीय पट्टिका खेती

वायुवीय पट्टिका खेती में आम फसलों को पट्टियों में वायु की सामान्य दिशा के 90 अंश कोण पर लगते हैं। उन इलाकों में, जहां सदा पश्चिमी हवा चला करती है, उत्तर–दक्षिण दिशा में लंबाई में ये पट्ठियां फैली रहती हैं तथा मक्का, ज्वार, बाजरा-जैसी फसलों की पट्टियों को बगल में घास या दलहनी फसलों की पट्टियां रहती हैं। इनके द्वारा उच्छलन किया द्वारा स्थानांतरित होने वाले कणों की क्षति बिल्कुल रुक जाती है, साथ ही भू–सतह के निकट वायु की गति काफी कम हो जाती है।

3. भूमि सतह की प्रकृति में परिवर्तन लाने वाले उपाय

भूमि सतह अगर वनस्पति से ढंकी रहे एवं उसमें खुरदरापन बना रहे, तो निश्चित रुप से पवनीय अपरदन रोका जा सकता है। जमीन की सतह पर मेड़ें बनाकर पृष्टीय सर्पण को पूर्णतः रोका जा सकता है और उच्छलन की क्रिया को बहुत कुछ कम किया जा सकता है। मेड़ें जितनी ऊंची होगी अच्छलन क्रिया उतनी ही रुकेगी। रिजर नामक यंत्र के द्वारा पूरी पट्टी में मेंड़ें एवं नालियां बना दी जा सकती हैं।

पृष्ठीय सर्पण रोकने तथा उच्छलन कम करने के कार्य में पौधे की जड़ों एवं खूटियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है फसल की कटाई के बाद जड़ खूंटियों को जहां का तहां छोड़ देने से बहुत लाभ होता है। प्रयोगों से यह पता चला है कि 15 सेमी की ऊंचाई छोड़कर गेहूं की कटाई होने पर खेत में बचे अवशिष्ट, 6 सेमी ऊंची मेंड़ों की अपेक्षा दुगुना उपयोगी सिद्ध हुए। 30 सेमी गहरी नालियां जो लिस्टर नामक यंत्र से बनाई गई थी, गेहूं के अवशिष्टों की अपेक्षा 10 प्रतिशत कम प्रभावशाली सिद्ध हुई। फसल कटने के समय कितनी ऊंची खूटियां छोड़ी जाए, यह इस बात पर निर्भर करेगी कि सामान्य तौर

से वायु वेग क्या रहता है। जितनी ही तेज गति से हवा चलती हो, उतनी ही ऊंचाई पर खूटियां छोड़नी चाहिए।

वायुवीय क्षरण को रोकन में पट्टिका खेती की विशेष भूमिका है। पट्टिका खेती को प्रायः समोच्च खेती अथवा वेदिका खेती के साथ संयुक्त रुप से अपनाया जाता है।

समोच्च पट्टीदार खेती के अतिरिक्त, पट्टीदार खेत के कुछ अन्य रुप भी हैं –

1. *क्षेत्र–पट्टीदार खेती*
2. *वात पट्टीदार खेती*
3. *स्थायी या वार्षिक पट्टीदार खेती,*
4. *उभय प्रतिरोधी पट्टीदार खेती*

ढाल की समकोणिक दिशा में लगभग समांतर पट्टियों में फार्म प्रक्षेत्र फसलों का रोपना क्षेत्र पट्टीदार खेती कहलाता हैं।

वात पट्टीदार खेती में, ज्वार या मक्का को सीधी और लंबी किंतु अपेक्षाकृत कम चौड़ी समांतरी पट्टियों में वायु की सामान्य दिशा के समकोणिक व अपेक्षाकृत छोटी फसलों के बीच उगाया जाता है।

स्थायी या वार्षिक पट्टीदार खेती में, पट्टियों को खड़ी या अत्यधिक अपरदित ढालों पर बनाया जाता है और इनमें पट्टीदार खेती की भांति यह आवश्यक नहीं है कि फसल चक के अनुसार ही खेती की जाएं। इन पट्टियों में बहुवर्षीय फलीदार फसलें या घासें भी बोई जा सकती हैं।

उभय प्रतिरोधी पट्टियों में प्रायः घास और अन्य क्षरणरोधी वनस्पतियां बोई जाती हैं। इन स्थायी पट्टियों की चौड़ाई परिवर्तनशील होती है। इंनसे अपरदन का प्रभावकारी नियंत्रण हो जाता है और मृदा पुनः उर्वर हो जाती है।

समोच्च पट्टिकाओं का विन्यास

सामान्यतः समोच्च पट्टिकाओं के विन्यास की तीन विधियां प्रचलित हैं–

1. पट्टिकाओं के दोनों किनारों को समोच्च रेखाओं पर स्थिर करना।

2. एक आधार या कुंजी समोच्च रेखा से, एक समान चौड़ाई वाली एक या अधिक पट्टिका का विन्यास करना और

3. नियमित चौड़ाई वाली पट्टिकाओं को, अनियमित चौड़ाई वाली पट्टिकाओं से एकांतरित करना।

पहली समोच्च रेखा का विन्यास

पट्टिका विन्यास की चाहे जो विधि अपनाई जाए, सबसे पहले एक या दो समोच्च रेखाओं का विन्यास आवश्यक होता है। पहली समोच्च रेखा की स्थिति के बारे में कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता। इसे निम्नलिखित स्थानों में से किसी एक स्थान पर क्षेत्रीय दशाओं के अनुसार विन्यस्त किया जा सकता है–

क. पहली समोच्च रेखा को ढाल लंबाई के मध्य में स्थित करना, तथा ऊपर व नीचे दोनों तरफ अधिक से अधिक संभव संख्या में लंबी पट्टिकाओं को विन्यस्त करना, तथा अनियमित चौड़ाई की पट्टिकाओं को क्षेत्र के ऊपरी व निचली सीमाओं पर स्थित करना।

ख. पहली समोच्च रेखा को ढाल लंबाई की ऊपरी सीमा पर स्थित करना तथा पट्टिकाओं को कम से नीचे की ओर विन्यस्त करते जाना।

ग. पहली समोच्च रेखा को ढाल लंबाई की निचली सीमा पर स्थित करना तथा पट्टिकाओं को कमशः ऊपर की ओर विन्यस्त करते जाना।

पहली समोच्च रेखा के विन्यास से भूमि की स्थलाकृति दशा मुख्य रुप से विचारणीय होती है।

पट्टिकाओं के दोनों किनारों को समोच्च रेखाओं पर स्थित करना

इस विधि में प्रत्येक पट्टिका के दोनों किनारे समोच्च रेखाओं पर विन्यस्त किए जाते हैं। अतः प्रायः सभी पट्टिकाएं असमान चौड़ाई की प्राप्त होती है। ऐसी पट्टिकाओं में भूपरिष्करण क्रियाएं पहले कुछ असुविधाजनक लग सकती है, परंतु अभ्यस्त हो जाने पर कोई विशेष असुविधा नहीं होती है।

समोच्च पट्टिका प्रणाली की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें बुवाई तथा अन्य कर्षण क्रियाएं समोच्च रेखाओं पर की जाती है। बुवाई की सर्वोत्तम विधि यह है कि बुवाई को पट्टिकाओं के दोनों किनारों से प्रारंभ किया जाए। ऐसा करने से लंबी पंक्तियां अधिक संख्या में प्राप्त होती हैं तथा बिंदु पंक्तियां मध्य में स्थित हो जाती हैं।

एक आधार पर कुंजी समोच्च रेखा से एक समान चौड़ाई वाली पट्टिकाओं का विन्यास –

जब पट्टिकाओं को चौड़ाइयों में बहुत अधिक भिन्नता आने लगती है तो यह उचित है कि असमान चौड़ाई की पट्टिकाओं को एक समान चौड़ाई वाली पट्टिकाओं के एक सेट के मध्य स्थित किया जाए। इसके लिए, एक आधार या कुंजी समोच्च रेखा विन्यस्त कर ली जाती है तथा उसके सहारे एक समान चौड़ाई वाली तमाम पट्टिकाओं को विन्यस्त किया जाता है। जब पट्टिकाओं को विन्यस्त किया जाता है। जब पट्टिकाओं का समोच्च रेखाओं से विचलन अधिक होने लगता है (जैसा कि इस विधि में होता ही है) तो इस विचलन के संशोधन हेतु एक अनियमित या असमान चौड़ाई की पट्टी विन्यस्त कर ली जाती है तथा इसके बाद पुनः समान चौड़ाई वाली पट्टिकाएं विन्यस्त की जाती हैं।

अनियमित चौड़ाई की पट्टिकाओं को स्थायी घास अथवा घास स्थली के रूप में रखा जा सकता है, तथा नियमित सस्यावर्तन में

सम्मिलित किया जा सकता है। इस विधि का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें एक समान चौड़ाई की पट्टिकाएं अधिक संख्या में प्राप्त होती हैं, जिसके फलस्वरूप बिंदु, पंक्तियों को कम से कम किया जा सकता है। परंतु इस विधि में यह दोष भी है कि सभी कृषि कार्य ठीक समोच्च रेखाओं पर नहीं किए जा सकते।

नियमित चौड़ाई वाली पट्टिकाओं को अनियमित चौड़ाई वाली पट्टिकाओं से एकांतिरित करना

इस विधि में पहली समोच्च रेखा, सुविधानुसार क्षेत्र के किसी भाग में स्थित कर ली जाती है। दूसरी समोच्च रेखा पट्टिका चौड़ाई की लगभग दुगनी दूरी पर, ऊपर या नीचे की ओर, विन्यस्त की जाती है। अब इससे ऊपर एक समान चौड़ाई की पट्टिका मापकर स्थित कर ली जाती है। इसी ढंग से पूरे क्षेत्र का विन्यास किया जाता है। इस विधि में, प्रत्येक समोच्च रेखा समान या नियमित चौड़ाई वाली पट्टिका की निचली सीमा तथा निकटस्थ असमान या अनियमित चौड़ाई वाली पट्टिका की ऊपरी सीमा निर्धारित करती है।

पट्टिका की चौड़ाई

पट्टिकाओं की चौड़ाई निम्नलिखित कारकों पर निर्भर है–

1. *ढाल प्रवणता की लंबाई*
2. *भूमि की पारगम्यता*
3. *भूमि की क्षरण प्रभाव्यता*
4. *वर्षा की मात्रा व प्रचंडता*
5. *सस्यावर्तन व प्रयुक्त फसलों की प्रकृति*
6. *कृषि यंत्रों का आकार व क्षमता, और*
7. *वायु वेग।*

सामान्यतः ढाल की प्रवणता अधिक होने पर पट्टिकाओं की चौड़ाई कम कर दी जाती है। नम क्षेत्रों में चौड़ाई प्रायः 18 मीटर से 45 मीटर तक रखी जाती है।

निकटवर्धी एवं अंतःकर्षित फसलों की पट्टिकाएं, सामान्यतः बराबर चौड़ाई की रखी जाती हैं, ऐसा करना व्यावहारिक दृष्टि से अधिक सुविधाजनक भी रखी जा सकती हैं। शोलापुर में किए गए प्रयोगों के आधार पर निकटवर्धी व अंतःकर्षित पट्टिकाओं की चौड़ाइयां विभिन्न ढालों के लिए प्रस्तुत की गई हैं।

वायु पट्टिकाओं, क्षेत्र पट्टिकाओं तथा अंतस्थ पट्टिकाओं का विन्यास

वायु पट्टिका प्रणाली में, पटिट्काएं, प्रचलित वायु दिशा के अभिलंब विंयस्त की जाती हैं। इसी प्रकार के पट्टिकाएं सामान्य भूमि ढाल के अभिलंब एक दूसरे के समानांतर विन्यस्त की जाती हैं।

अंतस्थ पट्टिकाओं की स्थितियां निम्नलिखित बातों पर निर्भर हैं--

1. समीपवर्ती पट्टिका की चौड़ाई तथा विन्यास।
2. सस्यावर्तन तथा प्रयुक्त फसलों की प्रकृति, बुरी तरह से क्षरित भूमि भागों, क्रांतिक ढालों तथा विषम कोणों की स्थिति और
3. संशोधन पट्टिका की आवश्यकता।

अंतस्थ पट्टिकाएं क्रमशः 2.5 मीटर से 6 मीटर चौड़ी रखी जाती हैं।

पट्टिकाथित क्षेत्रों में खेती

पट्टिकाओं के विन्यास के बाद खेती के लिए इस प्रकार के सस्यावर्तन अपनाएं जाने चाहिए जिससे कि भू–अपरदन को अधिकाधिक सीमा तक नियंत्रित किया जा सके। सस्यावर्तन में फसलों को इस प्रकार से समायोजित किया जा सकता है कि, निकटवर्धी घासों अथवा

दलहनी फसलों आदि से लगातार या 2 वर्षों तक चारा प्राप्त होता रहे। सस्यावर्तन को संतुलित करने के लिए कुछ अपट्टिकायित क्षेत्रों को भी सम्मिलित किया जा सकता हैं।

सस्यावर्तन में, इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि दो समीपवर्ती पट्टिकाओं में बुआई अथवा कटाई का समय एक ही न हो।

अंतस्थ पट्टिकाओं को प्रायः स्थायी रूप से घास के अंतर्गत रखा जाता है तथा उन्हें नियमित सस्यावर्तन में सम्मिलित नहीं किया जाता।

पट्टिका खेती को अपनाकर सर्वाधिक सुरक्षा तब हो सकती है जबकि पट्टिकाओं के दोनों तरफ से बुआई की जाती है तथा बीच में बिंदु पंक्तियों को स्थित करके उनमें घासें लगा दी जाती हैं।

वेदिकायित क्षेत्रों में पट्टिका खेती

अपरदन नियंत्रण का अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए पट्टिका खेती और वेदिका खेती को संयुक्त रूप से अपनाया जाना आवश्यक है। इसमें पंक्ति फसलें और निकटवर्धी फसलें एकान्तर क्रम से पट्टिकाओं में वेदिकाओं पर तथा उनके मध्यवर्ती क्षेत्रों में, भिन्न–भिन्न प्रकास से विन्यस्त की जाती हैं।

पट्टिका खेती व वेदिका

खेती को एक साथ प्रयोग करते समय, निम्नलिखित सुझावों पर ध्यान दिया जाना चाहिए–

1. *पट्टिकाओं की चौड़ाई, जहां तक संभव हो सके, लगभग एक समान रखी जानी चाहिए ताकि सस्यावर्तनों को ठीक प्रकार से संतुलित किया जा सके।*
2. *दो समीवर्ती वेदिकाओं के मध्य, प्रत्येक पट्टिका की कम से कम एक सीमा निश्चित की जानी चाहिए, ताकि प्रत्येक वेदिका*

अंतराल का एक भाग निकटवर्धी फसल द्वारा संरक्षित किया जा सके।

3. *अनियमित चौड़ाई वाले क्षेत्रों को निकटवर्धी फसलों की पट्टिकाओं के अंतर्गत रखकर बिंदु पंक्तियों की संख्या कम से कम की जानी चाहिए और*

4. *कृषि क्रियाओं में सुविधा एवं सरलता के लिए, पट्टिकाओं की संख्या कम से कम रखी जानी चाहिए।*

जहां मृदा सतह के लिए निकट वायु वेग को कम करने के लिए वायुरोधी पट्टिकाओं को विकसित करना होता है, वहां एक विशिष्ट तरीके से एक जाति के पौधों को एक पंक्ति में बोकर बहुत–सी जातियों का प्रयोग करना चाहिए। बाहर की तरफ या वायु की दिशा में आमतौर पर घनी झाड़ियों को उगाया जाता है। अगली कुछ पंक्तियों में साधारणतः छोटे वृक्षों को प्रति जाति एक पंक्ति के हिसाब से लगाया जाता है किंतु कभी–कभी दो या अधिक पंक्तियों में एक ही जाति के पौधों को भी लगा दिया जाता हैं, सर्वाधिक ऊंचें वृक्षों को बीच की पंक्तियों में लगाया जाता है और अंदर की पंक्तियों के लिए कुछ छोटी जातियों को चुना जाता हैं। इस व्यवस्था के परिणामस्वरुप बहने वाली भूमि के स्तर से काफी ऊपर उठा जाती है और धीर–धीरे वायुरोधी पट्टी की पवन विमुख दिशा में नीचे उतरने लगती है। प्रयोगों से पता चला है कि भूमि के निकट पौधे की बाड़ की ऊंचाई की 10–20 गुने के बराबर दूरी तक वायु का वेग घट जाता है।

शुष्क क्षेत्रों में रेत (बालू) के टीलों का स्थिरीकरण

शुष्क क्षेत्रों, सागरतटों एवं नदियों, के तटों पर अत्यधिक मात्रा में रेत का जमाव एवं इनसे निर्मित टीलों या ढेरों की तीव्रतम स्थान परिवर्तनशीलता एक विकट समस्या है। अतः मृदा संरक्षण हेतु इनके स्थिरीकरण की आवश्यकता है। इसके लिए प्रमुख रूप से दो उपायों

को अपनाया जा सकता है–

1. *वातरोधकों एवं रक्षा पट्टियों के प्रयोग द्वारा वायुवेग को कम करना,*
2. *रेत टीलों पर वनस्पतियों को स्थापित करना।*

रेत के टीलों के स्थिरीकरण में सर्वप्रथम टीलों की यथासंभव समतलन व ढालों का फैलाव किया जाता है। टीलों पर कर्षण क्रियाएं तभी करनी चाहिए जब भूमि में नमी पर्याप्त हो तथा वायु का वेग मंद हो। प्रयोग किए जाने वाले कृषि यंत्रों की क्षमता को ध्यान में रखकर ही रेत टीलों पर कर्षण तथा वानस्पतिक रोपण के लिए क्षेत्रफल का अधिग्रहण करना चाहिए। बड़े टीलों पर जहां संपूर्ण क्षेत्रफल एक ही बार में या एक ही वर्ष में नियंत्रित नहीं किया जा सकता, छोटे–छोटे नियंत्रणीय क्षेत्रफलों का चुनाव करना चाहिए। तथा जब एक प्रभावकारी वानस्पतिक आवरण स्थापित हो जाता है, तब संपूर्ण टीला क्षेत्रफल पर घासों, झाड़ियों आदि का आवरण स्थापित कर देना चाहिए। वनस्पति स्थापित क्षेत्र को चराई आदि से बचाना आवश्यक होता है। रेत के टीले के संपूर्ण पृष्ठ को पुआल एवं सस्य अवशेषों आदि द्वारा पूरी तरह आवृत कर दिया जाना चाहिए।

❑❑❑

अध्याय 9

मृदा संरक्षण में वानिकी एवं चरागाह प्रबंधन

मृदा अपरदन को रोकने एवं मृदा संरक्षण में वानिकी का विशेष महत्व है। वृक्ष मृदा की उपजाऊ शक्ति बढ़ाते हैं। मृदा में जैव पदार्थ मृदा की उपजाऊ शक्ति बढ़ाते हैं। मृदा में जैव पदार्थ की वृद्धि, नाइट्रोजन स्थिरीकरण तथा पोषक तत्वों को पौधों तक पहुँचाना – ये तीन वृक्षों के महत्वपूर्ण कार्य हैं। वृक्षों की पत्तियां, टहनियां और जैव पदार्थ मृदा अपरदन को रोकने में सहायक होते हैं। वृक्षों की जड़ें मृदा कणों को बाँधे रहती हैं जिससे मृदा कण टूटकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक स्थानान्तरित नहीं होने पाते। इस प्रकार मृदा अपरदित होने से बच जाती है।

वानिकी के उद्देश्य

वानिकी के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1. *प्रक्षेत्र में उपलब्ध साधनों का भरपूर उपयोग। ग्रामीण तथा जनजाति के लोगों को रोजगार के सुअवसर प्रदान करना।*
2. *प्रक्षेत्र में प्रति इकाई क्षेत्रफल से जलाऊ लकड़ी, इमारती लकड़ी, चारा आदि की मांग पूरा करना और भूमि की उत्पादन शक्ति में बढ़ोत्तरी करना।*

3. *पारिस्थितिकीय वातावरण के संतुलन को बनाए रखना।*

4. *मृदा अपरदन को रोकना, मृदा की नमी को बनाए रखना एवं मृदा उर्वरता स्तर को बढ़ाने में सहायता करना जिससे प्रति इकाई भूमि से अधिक उत्पादन प्राप्त किया जा सके।*

5. *संरक्षित और उत्पादित वन के ऊपर स्थानीय आवश्यकताओं को कम करना जिससे विद्यमान वन को सुरक्षित और उत्पादिक भूमिका को बनाया जा सके।*

उत्तम घास स्थल और चरागाह संरक्षण कृषि के महत्वपूर्ण अंग हैं। भलीभांति स्थापित एवं प्रबंधित चरागाहों में, कर्षित भूमियों की अपेक्षा अधिक नमी सुरक्षित हो सकती है। अधिक नमी संरक्षण का अर्थ चारा उत्पादन में वृद्धि एवं परिणामतः पशुधन में वृद्धि है।

घास स्थलों एवं चरागाहों से जल अथवा वायु द्वारा अपरदन की मात्रा में यथेष्ट कमी हो सकती है।

चरागाहों एवं घास स्थलों के प्रबंध में, निम्नलिखित मुख्य क्रियाओं पर ध्यान दिया जाता है–

1. *भूमि का चुनाव*
2. *भूमि की तैयारी व बुवाई*
3. *नवस्थापित चरागाहों का उपचार*
4. *कर्षण एवं पुनः बुआई*
5. *चूना व खाद का प्रयोग*
6. *खरपतवारों आदि का नियंत्रण*
7. *चराई का ढंग*
8. *चरागाहों का ज्वलन, और*
9. *जल निकास।*

1. भूमि का चुनाव

घास स्थल व चरागाह के अनगिनत लाभों के बावजूद भी यह संभव है कि संपूर्ण कृषि योग्य भूमियों को चरागाहों और घास स्थलों के रूप में प्रयोग किया जाए। इसके लिए उचित सुझाव यही है कि सर्वप्रथम भूमि को उसकी शक्यता वर्गीकरण के अनुसार वर्गीकृत कर लिया जाए, तथा उन्हीं क्षेत्रों को घास स्थलों एवं चरागाहों के लिए चुना जाए, जिनमें सामान्य ढंग से कृषि उत्पादन करने में अपरदन का संकट उपस्थित हो सकता है।

2. भूमि की तैयारी व बुआई

अधिकतर घास स्थलों और चरागाहों में प्रयुक्त घासों व दलहनों के बीज बहुत छोटे व कोमल होते हैं। अतः यह आवश्यक है कि एक भुरभुरा और दृढ़ बीज क्षेत्र तैयार किया जाए। इसके लिए मिट्टी पलट हल, देशी हल व कल्टिवेटर का प्रयोग किया जा सकता है।

बुवाई के पूर्व भूमि में नाइट्रोजन, फॉस्फोरस व पोटाशयुक्त खाद (अनुपात 5--10--10) 400 किलोग्राम से 600 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर के हिसाब से प्रयोग करना चाहिए।

बीजों की बुवाई प्रायः छिटकवां विधि से की जाती है। बुआई के बाद खूंटीदार हैरो, का प्रयोग करके बीजों को मिट्टी की एक पतली परत से ढह देना चाहिए।

3. नवस्थापित चरागाहों का उपचार

हाल में ही स्थापित किए गए घास स्थलों एवं चरागाहों में अपवाह एवं अपरदन दवारा मृदा व जल की हानि की संभावना अधिक रहती है। अतः इसकी सुरक्षा के लिए विपथन नालियों, समोच्च कूड़ों या खाइयों आदि की व्यवस्था की जानी चाहिए। समोच्च कूड़ों या खत्तियों से नमी का संरक्षण अधिक हो सकता है।

4. कर्षण एवं पुनः बुआई

पुराने घास स्थलों व चरागाहों के पुनरुद्धार के लिए कर्षण एवं पुनः बुआई आवश्यक है। इसकी सफलता, खादों व उर्वरकों के प्रयोग तथा भूमि में नमी की पर्याप्त मात्रा पर निर्भर है। साथ ही, पुराने चरागाहों में अति चराई वर्जित कर देनी चाहिए।

5. चूना व खाद का प्रयोग

अधिकतर आर्द्र क्षेत्रों में स्थापित चरागाहों में चूना, फॉसफोरस, नाइट्रोजन और पोटाश की कमी अधिक अनुभव होती है। अतः इन भूमियों का मृदा उर्वरता परीक्षण कर लेना चाहिए तथा उसी के अनुसार पोषक तत्वों की आवश्यक मात्राएं प्रयुक्त करनी चाहिए।

6. खरपतवारों का नियंत्रण

प्रायः ऐसा देखा जाता है कि घास स्थलों एवं चरागाहों में अवांछित पौधे उग जाते हैं, जो चरागाह के गुणों को खराब तो करते ही हैं, साथ ही भूमि की उर्वरता को भी किसी सीमा तक अपहृत कर लेते हैं। ऐसे पौधे खर–पतवार की कोटि में रखे जाते हैं। इन्हें उखाड़कर बाहर कर देना चाहिए। भेड़ों और बकरियों द्वारा इनकी चराई करवाकर इनको एक हद तक नियन्त्रित किया जा सकता है।

7. चराई का ढंग

घास स्थल एवं चरागाह प्रबंध में चराई विधि का बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। अति चराई हमेशा वर्जित की जानी चाहिए। चराई की गहनता चरागाह की वनस्पतियों के संघटन, सघनता व उनकी वृद्धि पर निर्भर है।

सामान्यतः चराई की निम्नलिखित विधियां प्रचलित हैं–

I. अस्थगित चराई

II. आवर्ती चराई

III. अस्थगित आवर्ती चराई

I. अस्थगित चराई

इस विधि में संपूर्ण चरागाह को तीन उपक्षेत्रों में विभाजित कर लिया जाता है। चराई केवल दो उपक्षेत्रों में एकांतरित की जाती है तथा तीसरे उपक्षेत्र को वृद्धि काल में सुरक्षित रखा जाता है, ताकि उनमें बीज उत्पन्न हो सके। प्रतिवर्ष, एक नए उपक्षेत्र को बीजोत्पादन के लिए सुरक्षित किया जाता है तथा शेष दो में चराई कराई जाती है। इस प्रकार तीन वर्षों में प्रत्येक उपक्षेत्र, एक बार चरा लिया जाता है, तथा प्रत्येक उपक्षेत्र एक बार बीज उत्पन्न करता है। यह विधि बहुवर्षी वनस्पति वाले चरागाहों के लिए उपयुक्त होती है।

II. आवर्ती चराई

इस विधि में पशुओं को चराई काल में चरागाह के किसी एक भाग से दूसरे भाग में निश्चित अवधि के अंतराल पर स्थानांतरित करते रहते हैं। परंतु इस विधि का यह दोष है कि इसमें बीज उत्पादन का उपयुक्त अवसर प्रायः नहीं मिल पाता है।

III. अस्थगित आवर्ती चराई

इस विधि में उपर्युक्त दोनों विधियों को संयुक्त कर लेते हैं। चराई के लिए चरागाह को तीन उपक्षेत्रों में विभाजित कर लिया जाता है तथा चराई का आवर्तन इस प्रकार निश्चित किया जाता है कि प्रत्येक उपेक्षत्र वृद्धि काल की लगभग एक तिहाई अवधि तक सुरक्षित रखा जाता है। इस अवधि तक, पशु तीसरे उपक्षेत्र में पहुंच जाते हैं। तब तक सुरक्षित उपक्षेत्र में बीज परिपक्व हो जाते हैं। दूसरे वर्ष में इस सुरक्षित उपक्षेत्र में चराई अस्थगित कर दी जाती है, ताकि नवजात पौधे भली-भांति स्थापित हो सकें। इस प्रकार यह सुरक्षित क्षेत्र प्रथम व तीसरे वर्ष में चराया जाता है। प्रत्येक उपक्षेत्र को इसी आवर्ती ढंग से सुरक्षित रखा एवं चराया जाता है। इस विधि में सबसे बड़ा लाभ यह है कि बीजोत्पादन के साथ साथ चारा भी पर्याप्त मात्रा

में मिलता रहता है।

8. चरागाहों का ज्वलन :

नियंत्रित ज्वलन हमेशा हानिकारक होता है परंतु अनियंत्रित ज्वलन कदाचित् निम्नलिखित कारणों से उपयोगी कहा जा सकता है:–

क. सूखी घासों, ठूठों व खरपतवारों को समाप्त करना।

ख. हानिकारक कीटों व व्याधियुक्त पौधों को नष्ट करना।

ग. घासों की वृद्धि को उत्तेजित करना।

8. जल निकास

घास स्थलों व चरागाहों को जलमग्नता की स्थिति से बचाना चाहिए। इसके लिए, समुचित क्षमता वाली जल निकास नालियों का प्रबंध किया जाना चाहिए। इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि जल निकास नालियों में जल बहाव अक्षरणशील ही रहे।

कृषि वानिकी

यह एक ऐसी पद्धति और तकनीकी है जिससे वृक्ष (जैसे फल, वृक्ष, पाम झाड़ियां, बांस) एक जमीन में एक इकाई के रूप में और पशु पालन के साथ उगाए जाते हैं या तो स्थानीय व्यवस्था या अस्थाई अनुक्रम कृषि वानिकी के परिस्थितिओं और आर्थिक विभिन्न घटकों का पारस्परिक क्रिया में समावेश रहता है।

संघटक की प्रकृति के आधार पर सामान्यता कृषि वानिकी को इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है– कृषि वन वर्धन, (फसल+ वृक्ष), कृषि उद्यानिकी (फसल + फल वृक्ष), कृषि वन चरागाह (फल + वृक्ष+चरागाह+बहु उद्देश्यीय वृक्ष) और बांस भूमि वानिकी विभिन्न संघटकों का बहु संयोजन।

I. कृषि वनवर्धन

इस पद्धति में वृक्ष, खाद्यान्य और चारे की फसलों को वृक्षों के बीच की जगह में उगाना होता है। वैज्ञानिक तकनीकी और उन्नत कृषि पद्धति के अपनाने से किसान अपने सीमित भूमि के स्रोतों से लकड़ी, खाद और चारा प्राप्त करता है। बारानी खेती का आर्थिक महत्व इसलिए भी है कि 80 प्रतिशत सम्पूर्ण क्षेत्र का आधार देती है। इसमें पशुधन कृषि में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है इसमें रोजगार भी मिल सकता है। बहुउद्देश्यीय वृक्ष जैसे *प्रोसापिस, सिनेरिया, एकेशिया निलोटिका, ऐकेशिया सेनेगाल* और *अलबीजिया लेबक* को कृषि वानिकी में उगाया जा सकता है जोकि जलाऊ लकड़ी के अलावा चारा भी देते हैं।

II. वनवर्धन पशुपाल्य पद्धति

बारानी खेती के कृषक जो कि दुधारू जानवर या पशुधन खेती के अधिक भाग के रूप में पालते हैं। वहां वृक्ष सीमित क्षेत्र में जलाऊ लकड़ी के रूप में खाली जगह या दो वृक्ष के रूप में उगाए जाते हैं। कृषक लाभान्वित हो जाते हैं। इस पद्धति में ऐसी मृदा का चयन किया जाता है जोकि असामान्य वर्षा के कारण विकृत की गई हों और इनमें वे वृक्ष लगाए जाते हैं जो कि इस विकृत मृदा के प्रति सहिष्णुता रखते हों, साथ में चारा और दलहनी फसलें लगाएं जो कि आवरण का कार्य करती हों।

वृक्ष शीघ्र वृद्धि करने वाले, उच्च स्वाद वाले, सूखे के प्रति प्रतिरोधकता, पशुओं के चरने से बच सकें को ही लगाना चाहिए। चारा भी ऐसा होना चाहिए जो छाया में उगाया जा सके।

III. कृषि–वन चरागाह

इस पद्धति से कृषक अपनी तीन आवश्यकता लकड़ी, फसलें और चारा प्राप्त कर सकते हैं। सारांश में इस पद्धति में कृषि, वन व

वन–चरागाह का सम्मिरण रहता है। इस पद्धति को कृषक बारानी खेती में फसलें और वनों उपयोगी वृक्ष एक निश्चित समय तक एक साथ विशेष स्तर तक लेते हैं और फिर फसलों के स्थान पर चारे की फसल लेते हैं।

IV. बहुउद्देशीय वनवृक्ष उत्पादन पद्धति

सभी वर्षा आधारित मृदाओं में खेती नहीं की जा सकती है तो वहां ऐसे वृक्ष लगाए जाते हैं जो लकड़ी, पत्तियां, फल, फलियां और चारा दे सकें। इस पद्धति में बबूल, शीशम, नीम, यूकेलिप्टस, आंवला, इमली–जैसे वृक्ष लगाए जाते हैं।

कृषि वानिकी में उगाए जाने वाले वृक्ष से उत्पादित कार्य और सेवा कार्य दोनों प्राप्त होते हैं। उत्पादित कार्य वे हैं जैसे मृदा में नाइट्रोजन भी स्थिरीकरण करता है। बहुउद्देश्यीय वृक्ष से जलाऊ लकड़ी, चारा, रेशा और खाद प्राप्त होता है। कुछ से इमारती लकड़ी, तेल, पेय और दवाइयां (कत्था) प्राप्त होते हैं।

सेवा कार्य जैसे छाया, आश्रय, बागड़, जल संरक्षण कार्य बहुउद्देशीय वृक्षों से होता है।

V. कृषि उद्यान की पद्धति

कृषि योग्य भूमि में जहां फल वृक्ष लगाते हैं उसे कृषि पद्धति कहते हैं। इससे अधिक आय प्राप्त होती है। कभी–कभी उचित व्यवस्थित बगीचे में खाद्य फसलों में भी अधिक लाभ प्राप्त होता है। कृषि उद्यान वानिकी में कौन से वृक्ष लगाए जाएं इस बात का निर्णय उस क्षेत्र में होने वाली वर्षा और उसका विभिन्न महीनों में वितरण निश्चित करेगा।

VI. वन उद्यान की पद्धति

यह पद्धति अपने आप में एक स्थानीय विशेषता लिए हुए है क्योंकि जंगल के वृक्ष प्रक्षेत्र फल वृक्ष के बीच में खाली स्थान में लगाए जाते हैं। इसमें चारा और फसल के स्थान पर वृक्ष लगाए जाते

हैं। फल उत्पादन करने वाले कृषकों को यह लाभ होता है कि उनको पेकिंग वस्तुएं मिल जाती हैं।

वनों के लाभ

वन, जलवायु के, प्रमुख घटकों तापमान, वायुवेग, वाष्पीकरण एवं वर्षा को मुख्य रूप से प्रभावित करते हैं। वनों का आवरण तापमान के साधारणीकरण में सहायक होता है। वनों द्वारा आवृत्त भूमियों का तापमान एकाएक अधिक अथवा न्यून नहीं हो पाता, क्योंकि ये सौर ऊर्जा को एक सीमा तक रोक देते हैं। वनों का आवरण वायुवेग को लगभग 20 से 60 प्रतिशत तक कम कर सकता है। इस प्रकार वायु अपरदन में कमी आती है। वनों के भीतर वायु के वेग में कमी, न्यून तापमान और वर्द्धित आपेक्षिक आर्द्रता आदि के फलस्वरूप वाष्पीकरण द्वारा भूमि जल हानि कम हो जाती है। वन, वर्षा के समुचित वितरण में सहायक होते हैं।

जल संरक्षण में वनों का प्रभाव अत्यंत व्यापक है। वनों के द्वारा भूमि जल स्तर में वृद्धि अथवा कमी वनस्पतियों के अनुक्रमण की प्रकृति तथा स्थलाकृति पर निर्भर करती है।

भलीभांति स्थापित वनावरण, त्वरित जल अपरदन को न्यूनतम सीमा तक कम कर सकता है। वन की चरमावस्था तो त्वरित अपरदन को प्राकृतिक अपरदन की दशा तक कम कर सकती है। परंतु वनों की कटाई, झूम खेती, दोषपूर्ण भूमि प्रयोग आदि के फलस्वरूप त्वरित अपरदन में वृद्धि हो जाती है। विभिन्न स्थानों के लिए उपयुक्त वन वनस्पतियों के नाम इस प्रकार हैं–

स्थानांतरणशील रेत के स्थिरीकरण के लिए

क. अंतरस्थलीय रेत हेतु

1. *कैजुआरिना इक्वीसेटीफोलिया (Casuarina equisetigolia)*
2. *कैजुआरिना म्यूरिकेटा (Casuarina muricata)*

3. प्रोसोपिस जूलिफ्लोरा (Prosopis Juliflora)
4. प्रोसोपिस स्पीशीजेरा (Prosopis spicigera)
5. प्रोसोपिस सिनेरेसेंस (Prosopis cinerascens)
6. एल्बीजिए लिब्बैक (Albizzia lebbek)
7. पिथकोलोबियम डल्सी (Pithcolobium dulce)
8. एकेसिया ऐरेबिका (Acacia arabica)
9. एकेसिया ऑरिकुलिफामिस (Acacia auriculiformis)
10. वाइटेक्स निगुण्डो (Vitex nigundo)
11. डेल्बर्जिया सिस्सो (Dalbergia sisso)
12. आइपोमिया कार्निया (Ipomea carnia)
13. सेलिक्स टेट्रोस्पर्मा (Selix tetrasperma)
14. एरण्डों डोनैक्स (Arundo donax)

ख. तटीय रेत

1. केजुआरिना इक्विसेटीफोलिया (Casuarina equisetifolia)
2. एनाकार्डियम ऑक्सीडेन्टेल (Anacardium occidentale)
3. केलोफाइलम इनोफाइलम (Calophylum inophyllum)
4. एकेसिया मोनिलिफर्मिस (Acacia moniliformis)

शुष्क क्षेत्रों के लिए

1. एकेसिया सेनेगल (Acacia Senegal)
2. एकेसिया मोडेस्टा (Acacia modesta)

3. प्रोसोपिास जूलिफ्लोरा (Prosopis Juliflora)

4. प्रोसोपिस स्पीशीजेरा (Prosopis Spinigera)

5. जिजिपस जुजुबा (Zizyphus Jujuba)

6. लेप्टाडेनिया स्पर्टियम (Leptadenia Spertium)

7. डोडोनिया विस्कोसा (Dodonea Visecosa)

8. कैलोट्रॉपिस प्रोसेरा (Calotropis proecera)

9. बैलेनाइट्स इजिप्टिएका (Balanites aegyptiaca)

10. ऐलेन्थस एक्जेल्सा (Ailanthus excelsa)

11. डेलबर्जिया सिस्सो (Dalbergia Sisso)

12. पोंगेमया पिन्नेटा (Pongamia pinnata)

13. एजेडिरेक्टा इन्डिका (Azadiraehta indica)

14. बाउहिनिया वेरिगेटा (Bauhinia variegata)

15. कैसिया फिस्टूला (Cassia fistula)

अनाच्छादित पर्वतीय ढालों के लिए

1. पाइनस एक्जेल्सा (Pinus excelsa)

2. पाइनस हेलिपेन्सिस (Pinus helipensis)

3. पाइनस पान्ड्रोसा (Pinus pondorosa)

4. क्यूप्रेसस ओरिजोनिका (Cuppressus orizonica)

5. रोबिनिया स्पीशीज (Robinia sps.)

6. सेड्रस देवदारा (Sedrus deodara)

जलाप्लावित भूमियों के लिए

1. यूक्लिप्टस रोबस्टा (Euealyptus robusta)
2. यूकेलिप्पटस रयूडिस (Euealyptus rudis)
3. लैजरस्ट्रोमिया फ्लॉसरिजनी (Lagerstroemia flosreginae)
4. कैजुआरिना इक्विसेटफोलिया (Casuarina equisetifolia)
5. बेरिंगटोनिया एक्युटैंग्युलेटा (Barringtonia acutangulata)
6. बिस्कोपिया जेबोनिका (Bischofia Javomica)
7. इयुगनिया जैम्बोलेना (Eugania Jambolana)
8. एरण्डो डोनेक्स (Arundo donax)
9. ब्यूटिया फ्रन्डोसा (Butea frondosa)
10. एकेसिया एरेबिका (Acacia arabica)
11. टेमेरिक्स आर्टिक्युलेटा (Tamarix articulata)
12. टोक्सीडियम डिस्टीकम (Toxidium distichum)
13. सेलिक्स एल्बा (Salix alba)
14. डायोस्पाइरस इम्ब्रियोप्टेनिस (Diosphyrus embroyoptenis)
15. टेरोस्पर्नम एसेरिफोलियम (Terospernum acerifolium)
16. सोपियम सेबिफेरम (Sopium sebiferum)

नहरों, रेल लाइनों सड़कों के किनारे के लिए

1. डलबर्जिया सिस्सो (Dalbergia sisso)
2. एकेसिया स्पीशीज (Acacia sps.)

3. इयूगेनिया जैम्बोलेना (Engania Jambolana)
4. मिलिया इन्डिका (Melia indica)
5. मैंजिफेरा इन्डिका (Mangifera indica)
6. सिजिजियम क्युमिनी (Syzygium cumini)
7. टर्मिनोलिया अर्जुना (Terminolia arjuna)
8. बैसिया लैटिफोलिया (Bassia latifloia)
9. एल्बीजिए स्पीशीज (Albizzia sps.)
10. सेड्रेला टूना (Cedrela toona)
11. ऐलेन्थस एक्जेल्सा (Ailanthus excelsa)
12. डिलोनिक्स रेजिया (Delonix regia)
13. कैसिया फिस्टुला (Cassia fistula)
14. पोलिएथिना लौंगिफोलिया (Polyathina longifolia)
15. बाउहिनिया बैरिगेटी (Bauhinia varieta)

चरागाह भूमियों के लिए

1. डल्बर्जिया सिस्सो (Dalbergia sisso)
2. टर्मिनेलिया बेलेरिका (Terminalia belercia)
3. सेलमेलिया मैलेबेरिका (Salmalia malabarica)
4. लेजरस्ट्रोमिया पारवीफ्लोरा (Legerstroemia parviflora)
5. ट्रेविया न्यूडिफ्लोरा (Trewia nudiflora)
6. एल्पीजिया लिबेक (Alpizzia lebbek)

7. मोरस लीविगेटा (Morus leavigata)

8. एकेसिया कैटेचू (Acacia catechu)

9. स्टिरियोपरनम सुवेवियोलेन्स (Stereopernum suaveolens)

उसर भूमियों के लिए

1. प्रोसोपिस ज्यूलिफोरा (Prosopis Juliflora)

2. एकेसिया एरैबिका (Acacia arabica)

3. टैमेरिक्स प्यूबिसेन्स (Tamarix pubescens)

4. सेयूडा फ्रुटिकोसा (Saueda Fruticosa)

5. सैल्सोला फीटिडा (Salsola foetida)

6. मेस्मेम्ब्रिएन्थेएम क्रिस्टीलिमियम (Mesmembryantherum crystalliumium)

7. ब्यूटिका फ्रान्डोसा (Butea frondasa)

8. टैमेरिक्स आर्टिक्यूलेटा (Tamarix articulata)

9. एजैडिक्टा इन्डिका (Azadirochta indica)

10. ड्रसोपिस ज्यूलिफ्लोरा (Drusopis Juliflora)

11. कैजुआरिना इक्विसेटिफोलिया (Casuarina equisetiflolia)

❑❑❑

अध्याय 10

भूमि पुनरुद्धार

भूमि एक मूलभूत प्राकृतिक संसाधन है। हमारे देश में कुल भौगोलिक क्षेत्रफल के कुल 32.9 करोड़ हेक्टेयर भूमि में से 14.20 करोड़ हेक्टेयर में ही खेती होती है जबकि लगभग 11.70 करोड़ हेक्टेयर परती एवं बंजर भूमि है। इसमें से अधिकांश भूमियों को कृषि योग्य बनाया जा सकता है। इनमें प्रमुख हैं– उसर या लवणीय, अम्लीय, बाढ़ प्रभावित, सूखा प्रभावित, अपरदित, बीहड़, कछारी, भूमियां, इत्यादि।

भूमि पुनरुद्धार के लिए प्रभावित क्षेत्र की भूमियों के बारे में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक होता है। भूमियों के उपयुक्तता एवं उपयोगिता के आधार पर अलग अलग भागों में बांट लेना चाहिए।

हमारे देश में हिमालय के अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों, उत्तरी–पूर्वी क्षेत्र, पश्चिमी घाट, पूर्वीघाट और केरल के तटवर्ती क्षेत्रों में 490 लाख हेक्टेअर क्षेत्र अम्लीय मृदाओं के अंतर्गत आते हैं। निम्न पी.एच.मान, निम्न क्षारक संतृप्तता, विनिमेय हाइड्रोजन तथा एल्युमीनियम की अधिकता अम्लीय मृदाओं की प्रमुख विशेषताएं हैं। अम्लीय मृदाओं में कैल्शियम, मैग्नीशियम, मोलिब्डेनम, बोरोन आदि तत्वों की कमी पाई जाती है। इसके विपरीत दूसरी ओर इनमें एल्युमीनियम और लौह की

विषालुता की समस्या होती है। अधिक अम्लीयता के कारण नाइट्रीकरण और नाइट्रोजन यौगिकीकरण जैसी क्रियाओं में बाधा पड़ती है। अम्लीय मृदा में सूक्ष्मजीवों की संख्या एवं उनकी क्रियाशीलता पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। ऐसी मिट्टी को सुधारने के लिए उसमें चूना डालना आवश्यक है। इससे अम्लता के कारण विलयित होकर विषाक्तता स्तर को प्राप्त करने वाले कुछ तत्वों यथा–एल्युमीनियम, मैंगनीज, निकेल आदि की मात्रा में कमी आती है। कुछ अम्ल के प्रति सहिष्णु वृक्ष एवं फसलें भी उगाई जा सकती है।

लवणीय मृदाओं के बनने का कारण जल निकास की कमी, नहरों में भूमिगत जल का ऊपर होना, उर्वरकों का अंधाधुंध प्रयोग आदि प्रमुख हैं। सिंचाई जल की गुणवत्ता ठीक न होने से भी लवणता आती है। ऐसे क्षेत्रों के सुधार के लिए जल निकास की समुचित व्यवस्था, निक्षालन करना तथा लवण सहिष्णु फसलों को बोना चाहिए। ऊपरी मृदाएं वे हैं जिनका पीएच. मान 8.5 के ऊपर हो तथा उनमें सोडियम तत्व की मात्रा अधिक हो। ऐसी मृदाओं की भौतिक संरचना बहुत बिगड़ जाती है। मृदा कठोर को जाती है। वातन सुचारू रूप से नहीं होता, फसलें नहीं ली जा सकती हैं। इनके सुधार के लिए जिप्सम या पाइराइट का मृदा सुधारक के रूप में प्रयोग किया जाता है।

मृदा उर्वरता एवं इसके कारक

मृदा की उर्वरता को उच्च स्तर पर एवं उत्पादक बनाए रखना अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा जीवन का आधार ही समाप्त हो जाएगा और हमारी सभ्यता नष्ट हो जाएगी। मानव जाति का निर्माण भूमि से ही हुआ है। मानव का जितना विकास हुआ है, वह उसकी भूमि की उर्वरता और उत्पादकता को बनाए रखने के प्रयासों पर निर्भर करता है। फसलोत्पादन के प्रमुख माध्यम के रूप में, मानव जाति के कल्याण में मृदा की एक प्रमुख भूमिका है। किसी देश की कृषि संबंधी जटिल समस्याओं के अध्ययन में निःसन्देह मृदा उर्वरता के अध्ययन का

विशेष महत्व है।

मृदा उर्वरता मृदा की वह क्षमता है जिससे फसलों की एक निश्चित पैदावार होती है और मृदा की उक्त क्षमता मृदा में निहित उन कारकों पर निर्भर करती हैं, जो उसकी फसलोत्पादन क्षमता का निर्धारण करते हैं। ये कारक हैं "मृदा में आवश्यक पोषक तत्वों का संतुलित और सुलभ रूप में विद्यमान रहना, पोषक तत्वों की निमुर्क्ति के लिए स्वस्थ वातावरण निर्माण हेतु मृदा का उचित सूक्ष्म जैविक स्तर बनाए रखना तथा मृदा की किसी विषैली या हानिकारक दशा या तत्वों से मुक्ति। इस प्रकार यह आवश्यक नहीं कि कोई उर्वर मृदा उत्पादक भी हो, कोई जलाक्रांत या जलमग्न मृदा अत्यधिक उपजाऊ होते हुए भी प्राकृतिक स्थिति प्रतिकूल रहने के कारण अधिक उपज नहीं दे सकती है। इसी प्रकार उर्वर मृदा में लवण या क्षार अधिक हो सकते हैं जो पादप वृद्धि के लिए विषैले होते हैं और मृदा की फसलोत्पादन क्षमता को सीमित करते हैं। इसके विपरीत किसी कम उर्वर रेतीली मृदा में आवश्यक मात्रा में उर्वरक और सिंचाई की व्यवस्था करके अधिक उपज ली जा सकती है। मृदा की फसलोत्पादन की उक्त क्षमता, कुछ क्षेत्रों में किन्हीं हानिकारक या विषैले तत्वों की अधिक मात्रा में उपस्थिति से घट सकती है। इन कारकों के अलावा कुछ ऐसे कारक भी हैं, जो एक प्रकार की दशाओं के अंतर्गत बहुत कुछ स्थिर अवस्था में रहते हैं। इन कारकों को मानव प्रयास द्वारा भी नहीं बदला जा सकता है। जहां इस प्रकार की मृदा विद्यमान है वहां उसके कारक मृदा प्रकार, प्रकृति और जलवायु हैं। मानव द्वारा नियंत्रित न किए जा सकने वाले मृदा कारकों में स्थलाकृति, मृदा गठन और मृदा परिच्छेदिका की गहराई आदि उल्लेखनीय हैं। तापमान, प्रकाश तीव्रता, वाष्पन, पाला आदि जलवायु कारकों को मानवीय प्रयत्नों द्वारा नियंत्रित किया जा सकता है। मृदा में विद्यमान उर्वरता का सबसे अधिक लाभ उठाने के लिए इसके कारकों का यथोचित अनुकूल करने पर ही उत्तम मृदा प्रबंध की सफलता निर्भर करती है।

संक्षेप में मृदा उर्वरता किसी मृदा की ऐसी संभावित क्षमता है, जिससे फसलोत्पादन होता है, जबकि मृदा उत्पादकता मृदा प्रबंध को प्रभावित करने वाले कई कारकों का सामूहिक परिणाम होती है।

मृदा उर्वरता के प्रकार

मृदा उर्वरता दो प्रकार की होती है– स्थायी उर्वरता और अस्थायी उर्वरता। स्थायी उर्वरता मृदा में स्वयं अंतनिर्हित होती है और लगभग जन्मजात होती है जबकि अस्थायी उर्वरता उपयुक्त मृदा प्रबंध से उत्पन्न की जाती है। लेकिन मृदा उर्वरता को बढ़ाने के लिए जितने बाहरी उपचार किए जाते हैं। फिर भी हम यह जानते हैं कि स्थायी उर्वरता को मृदा प्रबंध की विधियों से बढ़ाया, बनाया या नष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार मृदा के स्थायी उर्वरता स्तर की जानकारी और अस्थायी स्तर को अनुकूल बनाने के उपायों का ज्ञान ही उत्तम मृदा प्रबंध के लिए आवश्यक मूलभूत तकनीक है।

मृदा के बारे में हमारी मूलभूत या बुनियादी जानकारी तेजी से बढ़ी है, लेकिन मृदा प्रबंध की कुशलता किसानों में बहुत मंद गति से आ रही है, जिसके कारण मृदा उर्वरता में तीव्र गिरावट आई है एवं प्रति हेक्टेयर उपज में कमी हो गई है। मृदा उर्वरता मुख्य, और सूक्ष्मात्रिक आवश्यक पोषक तत्वों की पृष्ठ मृदा के अन्तर्गत पर्याप्त मात्रा और सुलभ रूप में उपस्थिति का परिणाम होती है। इसके अतिरिक्त मृदा में जैव पदार्थों का भी बड़ा महत्व है। इससे मृदा को भौतिक और सूक्ष्म जैविक लाभ मिलते हैं, क्योंकि जैव पदार्थ की पर्याप्त मात्रा मृदा को एक जीवित या सक्रिय पिंड बनाए रखती है। इसीलिए इन मृदा उर्वरता तत्वों की मृदा में कैसे घटते–बढ़ते हैं और इनको किन रूपों और स्तरों पर किन साधनों से अनुरक्षित किया जा सकता है जिससे इनके दीर्घकालीन उपयोग से फसलोत्पादन अधिक हो सके, आदि पक्षों पर विचार करना आवश्यक होगा।

पादप पोषण और मृदा विज्ञान की वैज्ञानिक जानकारी बढ़ने से

मृदा उर्वरता की बुनियादी धारणाओं पर अधिक प्रकाश पड़ा है। अब यह ज्ञात है कि मृदा में विद्यमान उर्वरता मृदा के अंतर्गत सुलभ रूपों और पर्याप्त मात्राओं में उपस्थित आवश्यक पोषक तत्वों का परिणाम होती है। इस प्रकार मृदा में अकार्बनिक पादप पोषक तत्वों, जैव पदार्थ की मात्रा और सूक्ष्म जैविक स्थिति के अध्ययन के आधार पर उसकी उर्वरता का मूल्यांकन किया जा सकता है। वास्तव में मृदा उर्वरता संबंधी अध्ययन उत्तम मृदा प्रबंध की जानकारी का बुनियादी आधार हैं और इससे फसलोत्पादन को बढ़ाने में सहायता मिलती है। मृदा उर्वरता विषय एक और मृदा विज्ञान से और दूसरी ओर मृदा प्रबंध से संबंधित है।

किसी फसल से जो उपज हमें प्राप्त होती है वह मृदा उर्वरता के लिए उत्तरदायी सभी कारकों का परिणाम होती है। किसी एक कारक की प्रभावोत्पादकता अन्य सभी कारकों के अनुपात और तीव्रता पर निर्भर करती है। इस लिए एक कारक को अनुकूल बनाकर मृदा उर्वरता को सुधारने का उपाय केवल अस्थायी उपचार ही होगा जिसके कारण अंततोगत्वा मृदा कारकों का परस्पर असंतुलन उत्पन्न हो सकता है। फलस्वरूप मृदा अनुपजाऊ हो सकती है। केवल अधिक सिंचाई और नाइट्रोजनधारी उर्वरकों के अधिक उपयोग से या फसलों की संकर किस्मों आदि के एक मात्र प्रयोग से न्यून फसलोत्पादन की समस्या के हल की आशा नहीं की जा सकती। इसलिए जब तक मृदा उर्वरता के सभी कारकों को ठीक ठीक समझकर उनको अनुकूल नहीं बना लिया जाता, तब तक यह समस्या हल नहीं हो सकती।

भारतीय मृदा में औसतन नाइट्रोजन, फास्फोरस व पोटाश की कमी है, सल्फर एवं जिंक की भी कमी काफी मात्रा में पाई जाती है। अनुसंधान से यह भी पता चलता है कि 10मी. टन गेहूं और धान की उपज के लिए लगभग 700 किग्रा. नाइट्रोजन, फास्फोरस एवं पोटाश की आवश्यकता होती है, जिसे वे केवल मृदा से पूर्ति कराना असंभव है। यह कहना ठीक ही होगा कि शायद ही पृथ्वी पर कोई ऐसी मृदा

हो जिसमें पर्याप्त मात्रा में उर्वरक डाले बिना बहुत समय तक अधिक उपज ली जा सके। इसलिए जरूरी है कि अधिक उपज लेने के मृदा में संतुलित मात्रा में पोषक तत्व डाले जाएं। ऐसा न करने से मृदा तत्वहीन हो जाएगी और अपेक्षित पैदावार नहीं मिल पाएगी।

मृदा उर्वरता को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक

मृदा उर्वरता को प्रभावित करने वाले मुख्य कारक इस प्रकार हैं (अ) प्राकृतिक कारक (ब) कृत्रिम कारक

अ. प्राकृतिक कारक

1. पैतृक पदार्थ : पैतृक पदार्थ की विभिन्नता के अनुसार मिट्टी के गुणों एवं उसकी उर्वराशक्ति में अंतर पाया जाता है। अम्लीय स्वभाव वाली आग्नेय शैलों, क्वार्ट्ज और बालू पत्थर के अपक्षण के परिणामस्वरूप बलुई मिट्टियां बनती हैं। इन मिट्टियों में केओलिनाइट प्रकार के क्ले खनिज पाया जाता है। इसमें क्षार की मात्रा कम होने के साथ इी इनकी उर्वराशक्ति भी अपेक्षाकृत कम होती है। क्षारीय एवं अवसादी शैलों के अपक्षय के परिणामस्वरूप भारी मटियार मिट्टियां बनती है, जिनमें क्षार की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होने के साथ ही इनकी उर्वरता भी अधिक होती है।

2. जलवायु : जलवायु के अंतर्गत वर्षा और तापमान दो प्रमुख घटक हैं जिनका मृदा उर्वरता पर प्रभाव पड़ता है।

(1) वर्षा : अधिक वर्षा वाले आर्द्र क्षेत्रों की मिट्टियों में सामान्यतः नाइट्रोजन और कार्बन की प्रचुरता होती है। इन मिट्टियों में क्ले की मात्रा, समुच्चयन और बेस संतृप्तता और विनिमेयशील हाइड्रोजन अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। इसके वितपरीत दशाओं में विनिमेयशील बेस और पीएच मान अपेक्षाकृत कम होता है।

(2) तापमान : जैव पदार्थ के विघटन और मिट्टी में विद्यमान सूक्ष्मजीवों की क्रियाशीलता पर तापमान का विशेष प्रभाव पड़ता है। तापमान में वृद्धि होने पर चट्टानों का अपक्षय अधिक होता है,

परिणामस्वरूप क्ले की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। तापमान में वृद्धि होने के साथ ही नाइट्रोजन एवं जीवांश पदार्थ की मात्रा तथा सिलिका एल्युमीनियम और बेस : एल्युमीनियम अनुपात घट जाता है।

3. वनस्पति एवं जैव पदार्थ : किसी क्षेत्र विशेष में पाई जाने वाली वनस्पतियों का उस क्षेत्र की मिट्टियों में जैव पदार्थ की मात्रा पर सीधा प्रभाव पड़ता है। जंगली वनस्पतियों पर विकसित मिट्टियों की परिच्छेदिका के संस्तर अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट होते हैं। इन मिट्टियों के "ए" संस्तर का निक्षालन कम होने के कारण इनके जीवांश पदार्थ में ह्यूमस की मात्रा अधिक पाई जाती है। अपरदन रोकने में वनस्पतियों की विशेष भूमिका होती है। अतः वनस्पति रहित क्षेत्रों की तुलना में वनस्पति आच्छादित क्षेत्रों की मिट्टियों की उर्वरता अधिक होती है।

4. *स्थलाकृति :* स्थलाकृति का मुख्य रूप से जल निकास और भूमि की अधो सतह में पाए जाने वाले जल स्तर के साथ सीधा संबंध देखा गया है। स्थलाकृति से संबंधित ये दोनों ही कारक मृदा उर्वरता को प्रभावित करते हैं। वे मिट्टियों जिनका विकास ढ़ालू पहाड़ी क्षेत्रों में होता है उनका "ए" और "बी" संस्तर बहुत उथला होता है। उल्लेखनीय है कि ऐसे क्षेत्रों की स्थलाकृति ढालू होने के कारण मृदा परिच्छेदिका में जल का प्रवेश बहुत की कम मात्रा में होता है और ऊपरी सतह का क्षरण बहुत तेजी से होता है। इसके विपरीत कम ढालू स्थलाकृति की दशा में विकसित मिट्टियों में अधिकांश जल भूमि की अधोसतह तक प्रवेश कर जाता है। अतः मिट्टियां अधिक गहरी और भारी गठन वाली होती हैं। इन मिट्टियों पर वनस्पति–आच्छादन अधिक होने के कारण इनमें जैव पदार्थ की प्रचुरता रहती है। इस प्रकार ये मिट्टियां अत्यंत ढालू स्थलाकृति की दशाओं में विकसित मिट्टियों की तुलना में अधिक उर्वरक होती हैं।

5. परिपक्वता : अपक्षय और निक्षालन की प्रावस्था से गुजर रही परिपक्व मिट्टियां उर्वराशक्ति अपरिपक्व (नवनिर्मित) मिट्टियों

की तुलना में कम होती है।

6. मृदा की भौतिक दशा : मिट्टी की उर्वरता में भौतिक दशा का भी योगदान होता है, पौधों की जड़ों का भूमि में प्रवेश, जल निकास, वातन दशा, जलधारण क्षमता, पोषक तत्वों की उपलब्धि आदि मिट्टियों के भौतिक गुणों से प्रभावित होते हैं। मिट्टी के भौतिक गुण का इनके भौतिक, रासायनिक और जैविक गुणों पर भी प्रभाव पड़ता है जो किसी न किसी रूप में मिट्टी की उर्वरता को प्रभावित करते हैं।

7. सूक्ष्म जीव : मिट्टी में अनेक सूक्ष्म जीवन पाए जाते हैं जो मृदा उर्वरता को किसी न किसी रूप में प्रभावित करते हैं। सूक्ष्म जीवों की कियाशीलता का पौधों के पोषक तत्वों की उपलब्धता पर सीधा प्रभाव पड़ता है। सूक्ष्मजीवों के सक्रिय न होने की दशा में जैविक खादों का लाभ नहीं मिल जाता। सूक्ष्म जीव अपनी ऊर्जा की पूर्ति के लिए कार्बनिक पदार्थों का उपयोग करते हैं जिसके परिणाामस्वरूप नाइट्रोजन, फॉस्फोरस और गंधक के कार्बनिक यौगिक अकार्बनिक रूप में परिवर्तित हो जाते हैं जिसे पौधे सुगमतापूर्वक अपने उपयोग में लाते हैं। अनेक खनिज तत्व जिनमें सूक्ष्ममात्रिक तत्व भी सम्मिलित हैं। कार्बनिक यौगिकों के रूप में उपस्थिति रहने के कारण पौधों को सुलभ नहीं हो पाते। सूक्ष्म जीवों द्वारा जैव–पदार्थों के अपघटन के परिणाम स्वरूप ये प्राप्त रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। दलहनी फसलों में राइजोवियम जीवाणु द्वारा नाइट्रोजन यौगिकीकरण होने से मृदा उर्वरता में प्रत्यक्ष वृद्धि होती है।

ब. कृत्रिम कारक

1. मिट्टी की अम्लीयता

अम्लीय मिट्टियों में कैल्शियम, मैगनीशियम, मॉलिब्डेन और बोरान की कमी पाई जाती है। इसके अतिरिक्त इनमें एल्युमिनियम और लौह (आयरन) की विषालुता की समस्या होती हैं। अधिक

अम्लीयता के कारण नाइट्रीकरण और नाइट्रोजन यौगिकीकरण–जैसी क्रियाओं में बाधा पड़ती है। अधिक अम्लता की दशा में स्थूल गठन वाली मिट्टियों में फॉस्फोरस, जस्ता, तांबा–जैसे पोषक तत्वों की भी कमी हो जाती हैं।

2. मृदा लवणता व क्षरीयता

क्षारीय मिट्टियों का उच्च पी एच मान तथा उनमें विनिमेय सोडियम की उच्च मात्रा के कारण मिट्टी में विद्यमान विभिन्न धनायनों का आपसी संतुलन बिगड़ जाता है जिसका शस्य दैहिकी और पोषक तत्वों की उपलब्धता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, क्षारीय मिट्टियों में सामान्यतया नाइट्रोजन, फॉस्फोरस और कैल्शियम की कमी पाई जाती है। इन मिट्टियों में जीवांश पदार्थ की मात्रा प्रायः कम होती है। इन पोषक तत्वों के साथ ही क्षारीय मिट्टियों में अनेक सूक्ष्ममात्रिक पोषक तत्वों की भी कमी पाई जाती है। लवणीय जल में घुलनशील लवणों की सांद्रता अधिक होने के साथ ही अवशिष्ट सोडियम कार्बोनेट की उपस्थिति भी मापी जाती है। ऐसे जल से सिंचाई करने से मिट्टी की लवणीयता एवं क्षारीयता बढ़ रही है जिसके परिणामस्वरूप मिट्टी की उर्वरता में कमी आ रही है।

3. जलमग्नता

जलमग्नता की स्थिति में मिट्टी में विद्यमान लौह (आयरन) और मैंगनीज का अपचयन हो जाता है जिसे पौधे सुगमतापूर्वक उपयोग में लाते हैं। अवकृत लौह और मैंगनीज के आयन धनायन विनिमेय प्रक्रिया में भाग लेते हैं जिससे मिट्टी के विनिमेय कैल्शियम, मैग्नीशियम और पौटेशियम की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। ये विनिमेयशील आयन मृदा में विलयन माध्यम से पौधों को सुलभ होने की स्थिति में रहते हैं। लौह के अवकरण के परिणामस्वरूप फॉस्फोरस की उपलब्धता भी बढ़ जाती है। इन सब लाभकारी प्रभाव के विपरीत जलमग्नता की स्थिति में जिंक–जैसे महत्वपूर्ण सूक्ष्म पोषक तत्व की उपलब्धता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त सल्फेट आयन के अवकरण

के परिणामस्वरूप सल्फाइड का निर्माण होने से गंधक की उपलब्धता कम हो जाती है।

मृदा उर्वरता का प्रबंध

निम्नांकित कारकों पर ध्यान देकर मृदा उर्वरता सुरक्षित रखी जा सकती है :

1. उचित भू–परिष्करण क्रियाएं

भू–परिष्करण क्रियाओं द्वारा मृदा में जल शोषण और धारण करने की क्षमता बढ़ जाती है। वायु संचार एवं वायुमंडल से मृदा का विनिमय भी बराबर होता रहता है, मृदा में जड़ों का प्रवेश सरलतापूर्वक होता है। उचित समय पर भू–परिष्करण क्रियाएं करने से मृदा संरचना में सुधार होता है।

2. उचित जल निकास

जल निकास की समुचित व्यवस्था होने से मृदा की संरचना अच्छी रहती है जिसके परिणामस्वरूप उचित वायुसंचार होता है और मृदा में जड़ों का समुचित विकास होता है।

3. मृदा अपरदन नियंत्रण

मृदा अपरदन का नियंत्रण करके मृदा के पोषक तत्वों को नष्ट होने से रोका जा सकता है जिसके परिणामस्वरूप मृदा उर्वरता बरकरार रखने में मदद मिलती है।

4. खरपतरवारों का नियंत्रण

खरपतवारों का समुचित नियंत्रण करके नमी एवं पोषक तत्वों की हानि को बचाकर मृदा उर्वरता सुरक्षित रखी जा सकती है।

समन्वित पोषक तत्व प्रबंधन

समन्वित पोषकतत्व प्रबंधन से अभिप्राय है कि मृदा उर्वरता को बढ़ाने अथवा बनाए रखने के लिए पादप पोषक तत्वों के सभी उपलब्ध

स्रोतों से मृदा में पोषक तत्वों का इस प्रकार से सामंजस्य रखा जाए जिससे मृदा के भौतिक, रासायानिक और जैविक गुणों पर हानिकारक प्रभाव डाले बिना लगातार अधिकतम उत्पादन लिया जा सके।

समन्वित पोषक तत्व प्रबंधन इस प्रकार का होना चाहिए कि किसी भी फसल चक्र प्रणाली में फसल की आवश्यकतानुसार पोषक तत्वों का संतुलित एवं इष्टतम् मात्रा में आपूर्ति का सामंजस्य हो।

समन्वित पोषक तत्व प्रबंधन के उद्‌देश्य

समन्वित पोषक तत्व प्रबंधन के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं–

1. खाद एवं उर्वरकों की उपयोग क्षमता में वृद्धि करना
2. फसलों की उत्पादकता को बढ़ाना
3. मृदा उर्वरता को बढ़ाना एवं उसे बरकरार रखना।
4. किसानों की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति में बदलावा लाना।
5. पर्यावरण को प्रदूषित होने से बचाना।

समन्वित पोषक तत्व प्रबंधन के घटक

समन्वित पोषक तत्व प्रबंधन के प्रमुख घटक इस प्रकार हैं–

1. रासायनिक उर्वरक
2. जैविक खादें, जैसे–गोबर की खाद, कम्पोस्ट, हरी खाद, इत्यादि।
3. फसलों के अवशेष
4. दलहनी फसलें
5. जैव उर्वरक
6. वर्मी कम्पोस्ट (कुंचुओं से तैयार खाद)

समन्वित पोषक तत्व प्रबंधन का महत्त्व

विगत वर्षों में उर्वरक उपयोग में अच्छी वृद्धि हुई है लेकिन

उर्वरक उपयोग की तुलना में फसलों द्वारा भूमि से पोषक तत्वों के अधिक अवशोषण के कारण भूमि की उर्वरा शक्ति को बनाए रखने के लिए समन्वित पोषक तत्व प्रबन्ध पर विशेष जोर दिया जाना बहुत ही आवश्यक है। समन्वित पोषक तत्व प्रबंध से तात्पर्य पादप पोषक तत्वों के विभिन्न स्रोतों के समुचित व समन्वित उपयोग से है। समन्वित पोषक तत्व प्रबंध के अंतर्गत किसान भाइयों को उर्वरकों के साथ–साथ पोषक तत्वों के दूसरे स्रोत जैसे गोबर की खाद, हरी खाद, फसल अवशेष और जैव उर्वरकों आदि के प्रयोग पर विशेष बल दिया जाता है।

प्रायः कृषकों को पोषक तत्वों के विभिन्न स्रोतों की आवश्यकता व महत्व के बारे में साधारण जानकारी तो है लेकिन कुछ ऐसी व्यवहारिक समस्याएं हैं जिनके कारण इनका उपयोग अपेक्षित मात्रा में नहीं हो पा रहा है। अधिकतर छोटे व मंझले किसानों की कमजोर आर्थिक स्थिति होने के कारण वे उर्वरकों की सिफारिश की गई मात्रा का प्रयोग नहीं कर पा रहे हैं। गोबर का ईंधन के रूप में प्रयोग होने के कारण देशी खाद व कम्पोस्ट आदि के लिए इसकी उपलब्धता काफी कम है। भूसा व फसल अवशेषों का प्रयोग पशु चारे के रूप में होने के कारण मृदा में इनके प्रयोग की संभावना काफी कम है। जैव उर्वरकों से स्पष्ट व समान लाभ न मिलना और किसानों को जैव उर्वरकों के प्रयोग के बारे में आवश्यक जानकारी न होना इनके प्रयोग में बाधक सिद्ध हो रहा है।

ऐसा देखा गया है कि लगातार एक ही फसल चक्र अपनाने से मृदा की उर्वराशक्ति एवं उत्पादकता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अतः भविष्य में फसल चक्र में परिवर्तन करते रहना चाहिए और फसल चक्र में कम अवधि की दलहनी फसलों को अपनाना चाहिए। अवशेषों को खेत में जला देने की अपेक्षा इनकी जुताई करके सड़ा गला देना अधिक लाभकर रहता है। अच्छी गुणवत्ता वाले कम्पोस्ट खाद का निर्माण करके कम खाद सामग्री से पोषक तत्वों की पूर्ति यथोचित

मात्रा में की जा सकती है। उर्वरकों का सही समय पर सही विधि से व संतुलित मात्रा में उपयोग किया जाना चाहिए। मृदा परीक्षण के आधार पर उर्वरकों का प्रयोग आर्थिक दृष्टि से लाभदायक है।

कुछ ऐसे जैव उर्वरक वायुमंडल की नाइट्रोजन का यौगिकीकरण करके इसे फसलों को उपलब्ध कराते हैं। दलहनी फसलों में राइजोबियम कल्चर और धान में नील हरित शैवाल व एजालो का प्रयोग करना चाहिए। कुछ ऐसे लाभकारी सूक्ष्म जीव भी पहचाने गए हैं जो मृदा में मौजूद अघुलनशील फॉस्फोरस को घुलनशील बना देते हैं। इन्हें फॉस्फोरस घोलक बैक्ट्रीरिया (पी.एस.बी.) के नाम से जाना जाता है। फॉस्फोरस उर्वरकों की बढ़ती कीमतों को देखते हुए पी.एस.बी उपयोग की आवश्यकता और भी बढ़ गई है।

यह निर्विवाद सत्य है कि मृदा की गिरती हुई उर्वराशक्ति को समन्वित पोषक तत्व प्रबंध के बिना नहीं रोका जा सकता है। क्योंकि पोषक तत्वों का कोई भी स्रोत (उर्वरक, देशी खाद, कम्पोस्ट व जैव उर्वरक) इस स्थिति में नहीं है कि वह अकेला पोषक तत्वों की पूर्ति कर सके। पोषक तत्व प्रबंध की सफलता पोषक तत्वों के विभिन्न स्रोतों की उपलब्धता के साथ–साथ इनके सक्षम उपयोग बढ़ाने पर निर्भर करेगी।

समस्याग्रस्त मृदाएं और उनका सुधार

हमारे देश के शुष्क और अर्ध–शुष्क क्षेत्रों में फसलों की पैदावार घटने का सबसे बड़ा कारण मिट्टी में लवणीयता (Salinity) या क्षारणीयता (Alkalinity) की समस्या है। कुल मिलाकर लगभग 70 लाख हैक्टर भूमि में यह समस्या पाई गई है। जैसे–जैसे सिंचाई के साधन बढ़ते जा रहे हैं, वैसे–वैसे यह समस्या भी बढ़ती जा रही है। इसका एक बड़ा कारण यह है कि नहरी पानी के सिंचाई के तरीके गलत हैं। देश में जब नहरी सिंचाई शुरू की गई तो उसके चंद सालों बाद हजारों हैक्टेयर उपजाऊ भूमि पानी जमा हो जाने के कारण

रेतली हो गई। अगर मृदा और जल प्रबंध के बेहतर तरीके न अपनाए गए तो यह समस्या बहुत विकट रूप धारण कर लेगी और तमाम उपजाऊ जमीन बंजर होकर खेती के योग्य नहीं रह पाएगी।

सन् 1908 में केंद्रीय मृदा लवणता अनुसंधान संस्थान की स्थापना करनाल में की गई थी। इस संस्थान ने देश की समस्या ग्रस्त मिट्टियों वाले क्षेत्रों का सर्वेक्षण करके यह देखा कि जिन क्षेत्रों में यह समस्या पाई जाती है वहां भूमि के भौतिक और रासायनिक गुण, भू–आकृतिक विशेषताएं, भू विज्ञान, जल विज्ञान, जल स्तर तथा जल प्रबंध के तरीके क्या है। अपनी स्थापना के समय से ही केंद्रीय लवणता अनुसंधान संस्थान मृदा की क्षारीयता और लवणता की समस्या पर अनुसंधान कार्य कर रहा है। इसके साथ ही मिट्टी की लवणता और जल प्रबंध को लेकर भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् ने अखिल भारतीय समन्वित अनुसंधान परियोजना चलाई थी। बाद में करनाल के संस्थान का एक क्षेत्रीय केंद्र पश्चिम बंगाल में केनिंग टाउन में खोला गया। यहां पर तटवर्तीय क्षेत्रों की समस्या पर अनुसंधान कार्य शुरू किया गया। छठी पंचवर्षीय योजना में काली मिट्टी वाले इलाकों में भी एक क्षेत्रीय केंद्र बनाया गया है। इसके अतिरिक्त 8 केंद्रो में लवण प्रभावित मिट्टियों के प्रबंध और सिंचाई के लिए खारे पानी के उपयोग पर अनुसंधान किया जा सकता है।

लवण प्रभावित मिट्टियों के क्षेत्र

गंगा के मैदानी क्षेत्रों में ढ़ाई लाख हैक्टेयर में मृदाएं लवण प्रभावित हो चुकी हैं। ये मृदाएं मुख्यतया क्षारणीय (सोडिक) हैं और मुख्यतया उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब और बिहार में पाई जाती हैं।

राजस्थान और गुजरात के सूखे इलाके में लवण प्रभावित मृदाएं लगभग 10 लाख हेक्टेयर में पाई जाती हैं। यहां पर बारिश भी कम होती है और सिंचाई के पानी की गुणवत्ता भी अच्छी नहीं है। जमीन के नीचे अच्छा पानी न होने के कारण इन मृदाओं को सुधारना और इनको काम में लाना मुश्किल है।

काली मृदाओं में लवण प्रभावित मृदाएं लगभग 14 लाख हैक्टेयर में पाई गई हैं। ये मृदाएं मध्य प्रदेश से लेकर गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु तक फैली हुई हैं। इनमें भारी चिकनी मृदा वाली मृदाएं बहुतायत से हैं। काली मृदा में नहर से सिंचाई करने के बाद लवणीकरण का दूसरा चरण शुरू हो जाता है।

तटवर्ती क्षेत्रों में लगभग 21 लाख हैक्टेयर में लवणीयता की समस्या बनी हुई है। इस क्षेत्र में आमतौर पर नदियों के मुहानों पर और जहां नदी समुद्र में डूबती है उस जगह पर लवणीयता की समस्या पाई गई है। गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल इस समस्या से प्रभावित हैं। यहां की मृदाओं में प्रमुख ऋणायन क्लोराइड और सल्फेट हैं जबकि धनायन में सोडियम की प्रमुखता है। कहीं कहीं पर थोड़ी मात्राओं में मैग्नीशियम भी पाया गया है। केरल के कुछ भागों में ऐसिड सल्फेट वाली मृदाएं पाई जाती हैं। पूर्वी और दक्षिणी क्षेत्रों में वर्षा अधिक होती है और गुजरात में कम। इसलिए इन दोनों क्षेत्रों की मृदाएं सुधारने के लिए अलग–अलग तकनीकों की जरूरत पड़ेगी।

लवण प्रभावित मृदाओं का प्रबंध (Management of Salt affected soils)

प्रबंधन की दृष्टि से लवण प्रभावित मिट्टियों को दो वर्गों में बांट सकते हैं। क्षारीय मिट्टियां और लवणीय मिट्टियां।

क्षारणीय मृदाएं (alkaline soils)

इन मृदाओं में विनिमेयशील सोडियम (exchangeable sodium) पर्याप्त मात्रा में होता है जो कि पौधों की बढ़वार को प्रभावित करता है। इनका पीएच. मान 8.5 से अधिक होता है। इन मृदाओं में पाए जाने वाले लवणों में सोडियम के कार्बेनेट और बाई कार्बोनेट प्रमुख हैं। अधिक सोडियम के कारण इन मृदाओं की भौतिक और रासायनिक

विशेषताएं खत्म हो जाती हैं और पानी अंदर नहीं भेद सकता। ये मृदा घनी और ठोस हो जाती है और सबसे ऊपर की परत कड़ी चिकनी मृदा वाली या सख्त कंकरीली बन जाती है। गीला होने पर मृदा में लोहे बन जाते हैं, जो सूखने पर मोटे–मोटे ढेले–से दिखते हैं। पानी कम भेदन के कारण वर्षा जल सतर पर ही रह जाता है और आगे चलकर जल लग्नता का कार्य करता है। पानी उड़ जाने पर अत्यधिक क्षारीय माध्यम में घुला हुआ जैवांश मृदा को काला कर देता है, इसलिए मृदाएं काली दिखाई देती हैं। पौधों की बढ़वार के लिए ये मृदाएं अनुपयुक्त हो जाती हैं। जिसके कई कारण है– सोडियम की अधिक मात्रा होने के साथ ही इन मृदाओं में पीएच मान प्रायः 10 से ऊपर पहुंच जाता है। कैल्शियम, नाइट्रोजन और जस्ते की कमी हो जाती है। कंकरों के रूप में कैल्शियम कार्बोनेट जमा रहता है। यह ऊपर की एक मीटर गहरी पर्त में पाया जाता है। मृदा में हवा, पानी के निकास और प्रवेश की गुंजाइश बहुत कम रहती है। भौतिक अवस्था बिगड़ जाने से मिट्टी में जड़ों का विकास रूक जाता है।

लवणीयता मृदाएं (saline soils)

इन मृदाओं में उदासीन, घुलनशील लवण पाए जाते हैं। जैसे कि सोडियम के क्लोराइड और सल्फेट तथा कैल्शियम और मैग्नीशियम के क्लोराइड और सल्फेट। इनकी मात्रा इतनी अधिक होती है कि पौधों की बढ़वार रुक जाती है। कई क्षेत्रों में जल स्तर ऊपर उठ जाता है और जमीन के भीतर का पानी उतना अच्छा नहीं रह जाता। आमतौर पर इन मृदाओं की भौतिक दशा अच्छी होती है और पानी अंदर भेद सकता है।

लवणीय मृदाओं का सुधार

इन मृदाओं को सुधारना आसान है। इन मृदाओं में विनिमेयशील सोडियम की मात्रा 15 प्रतिशत से कम होती है। उदासीन लवण

अधिक होते हैं जिनके कारण रसाकर्षण दाब बढ़ जाता है। इनकी पीएच मान 8.5 से कम होता है। जल–स्तर ऊंचा होता है, जिसके कारण, कई क्षेत्रों में जलमग्नता की समस्या पैदा हो जाती है। अधिकतर क्षेत्रों में जमीन के नीचे का पानी घटिया है। जल–निकास में बाधा पड़ती है और कुछ ऐसे रसायन पाये जाते हैं जिनका प्रभाव विषाक्त पड़ता है।

लवणीय मृदाओं का सुधार अपेक्षाकृत आसान है। ऐसे क्षेत्रों के सुधार के लिए जल निकास की समुचित व्यवस्था करनी होती है तथा निक्षालन विधि द्वारा लवणों को बहा दिया जाता है।

क्षारीय मृदाओं का सुधार

क्षारीय मृदाओं का पीएच मान 8.5 से अधिक होता है। विनिमेयशील सोडियम की मात्रा 15 प्रतिशत से अधिक होती है। इन मृदाओं की भौतिक संरचना बिगड़ जाती है जिससे मृदा में वायु व पानी का आवागमन बाधित हो जाता है। इन मृदाओं में फसलें नहीं ली जा सकती हैं। क्षारीय मृदाओं में सोडियम की मात्रा अधिक होने पर इन मृदाओं में खेत में काफी दिनों तक पानी खड़ा रहता है तथा सूखने पर ये मृदाएं बहुत कड़ी हो जाती हैं। इन मृदाओं में नीचे एक कठोर परत बन जाती है जिससे पानी का मृदा में नीचे जाना बंद हो जाता है। इन मृदाओं में पाए जाने वाले विनिमयशील सोडियम को हटाने के लिए जिप्सम, पायराइट या सल्फर का प्रयोग किया जाता है।

क्षारीय मृदाओं के सुधार के लिए सर्वप्रथम जल की व्यवस्था होना अत्यंत आवश्क है। क्षारीय मृदाओं के सुधार के लिए ट्यूबवैल का पानी सर्वोत्तम माना जाता है। सिंचाई जल की जांचकर उसकी उपयुक्तता ज्ञात कर लेनी चाहिए। इसके पश्चात् मृदा का परीक्षण कराकर मृदा की प्रकृति का पता लगा लेना चाहिए। मृदा सुधारकों का प्रयोग करने से पहले मृदा की भौतिक दशा सुधारने के लिए यांत्रिक विधियों का प्रयोग किया जाता है। इसमें सब-स्वॉयलर (Sub-

soiler) द्वारा गहरी जुताई करके कड़ी परत को तोड़ा जाता है जिससे सोडियम नीचे की सतह में जा सके। इसके पश्चात भूमि को समतल करके उसकी मेड-बन्दी की जाती है। साथ ही साथ पानी निकालने के लिए नाली भी बना लेनी चाहिए। जिप्सम बिखरने के पश्चात खेत में लगभग 20 से 22 सेमी. पानी 7 से 8 दन तक खड़ा रखना चाहिए।

यदि मृदा के प्रकार और पीएच. मान का पता हो तो क्षारीय मृदा के सुधार के लिए जिप्सम की मात्रा का पता आसानी से लगाया जा सकता है। सारणी 10.1 में मृदा के पीएच मान एवं मृदा के प्रकार के अनुसार जिप्सम की आवश्यकता दर्शाई गई है।

सारणी 10.1 : जिप्सम की आवश्यकता (टन प्रति हेक्टेयर)

मृदा का पी.एच मान	मृदा का प्रकार		
	बलुई दोमट	दोमट	चिकनी दोमट
9.2	1.7	2.5	3.4
9.4	3.4	5.0	6.5
9.6	5.1	7.5	10.0
9.8	6.8	10.0	14.6
10.0	8.5	12.5	15.0
10.2	10.0	15.0	15.0

मृदा सुधारक के साथ ही गोबर की खाद, कम्पोस्ट, यूरिया, अमोनियम् सल्फेट और जिंक सल्फेट का इस्तेमाल अवश्य करना चाहिए ताकि पोषक तत्वों के अभाव के कारण पौधे मर न सकें।

निश्चित रूप से देश विकास में मृदा संसाधनों का महत्वपूर्ण स्थान है। वर्ष 1965–66 में भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद का पुनर्गठन किया गया। इसमें मृदा संसाधन विवरणिका, मृदा और

आर्द्रता संरक्षण अनुसंधान मरु खेती, अधिक पैदावार देने के लिए मृदा और उर्वरक प्रबंधन प्रौद्योगिकी पर अधिक बल दिया गया। इसके लिए संबंधित अनुसंधान केंद्रो को और अधिक बल दिया गया। इसके लिए संबंधित अनुसंधान केंद्रो को और अधिक मजबूत बनाया गया और बहुत–सी अखिल भारतीय समन्वित अनुसंधान परियोजनाओं और कुछ नए अनुसंधान संस्थानों की स्थापना की गई।

पुनर्गठित भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के अंतर्गत जो अनुसंधान कार्य हुए, उन्हें निम्नलिखित चार वर्गों में बांटा जा सकता है–

1. देश के मृदा संसाधनों की मृदा सर्वेक्षण विवरणिका, उनका वर्गीकरण, नक्शा बनाना और विभिन्न भूमियों में उनका मूल्यांकन।
2. पौध बढ़वार में मृदा का एक माध्यम के रूप में समाकलित अनुसंधान।
3. कृषि सहायता के लिए मृदा प्रबंधन अनुसंधान संस्थान।
4. मृदा घटकों और उनके गुणों पर मूल अनुसंधान।

मृदा संसाधन विवरणिका

देशभर में मृदा सर्वेक्षण और भूमि उपयोग आयोजना ब्यूरो ही एक ऐसी एजेंसी है जहां मृदा सर्वेक्षण मृदा वर्गीकरण और सहसंबंध, मानचित्रण और भूमि उपयोग आयोजना पर कार्य होते हैं। इसके छः क्षेत्रीय अनुसंधान केंद्र भी हैं। देश के आठ सस्य पारिस्थितिकी क्षेत्रों, 52 भू–क्षेत्रों और 231 भूमि संसाधन प्रभागों के मानचित्र भी तैयार किए जा चुके हैं। मृदाओं की एक सामान्य नक्शा भी तैयार किया गया है, जिसमें 24 प्रमुख मृदा वर्ग और 103 मृदा एकक दिखाए गए हैं। यह नक्शा 1.60 लाख पैमाने पर तैयार किया गया है।

अभी तक 990 मृदा श्रेणिया बनाई गई हैं जिनमें से 402 राष्ट्रीय

मृदा श्रेणी के रजिस्टर में है। बेंच मार्क सायल्स ऑफ इण्डिया नामक एक पुस्तक भी प्रकाशित की गई है। यह ब्यूरो मृदा सर्वेक्षण में प्रशिक्षण भी देता है जिससे कि विभिन्न राज्यों के मृदा सर्वेक्षण संगठनों के स्टाफ की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके। राष्ट्रीय मृदा सर्वेक्षण और भूमि उपयोग आयोजना ब्यूरो और दूसरे संगठनों द्वारा किए गए अनुसंधान कार्यों को भी शामिल करके देश के लगभग एक तिहाई क्षेत्र का सर्वेक्षण किया जा चुका है। मृदा सर्वेक्षण और वर्गीकरण के क्षेत्र में जो अनुसंधान कार्य किए गए हैं इससे मिट्टियों का प्रता लगाने के लिए और सुनिश्चित मिट्टी इकाइयों का पता लगाने के लिए सहायता मिलेगी। साथ ही इससे उसी तरह की मिट्टी इकाइयों के लिए उपयुक्त प्रौद्योगिकी घटकों के स्थानांतरण में भी निर्देश मिलेगा।

हाल ही के कुछ वर्षों में इस ब्यूरो ने मिट्टियों की सूची तैयार करने हेतु आंकड़े इकट्ठे करने के लिए अंतरिक्ष प्रयोग केंद्र (एस.एस. सी) भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन, (आई.एस.आर.ओ) भारतीय प्रतिवर्ती संवेदन संस्थान (आई.आई.आर.एस) और राष्ट्रीय प्रतिवर्ती संवेदन एजेंसी (एन.आर.एस.ए.) का योगदान लिया। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए राष्ट्रीय प्राकृतिक संसाधन प्रबंध पद्धति तैयार की गई जिसमें पांच क्षेत्रीय प्रतिवर्ती संवेदन सेवा केंद्र है। इन केंद्रों में से एक राष्ट्रीय मृदा सर्वेक्षण और भूमि उपयोग आयोजन ब्यूरो नागपुर में है। सन् 1983 में एक राष्ट्रीय भूमि संसाधन संरक्षण और विकास कमीशन और राष्ट्रीय भूमि उपयोग मंडल की स्थापना की गई। इस तरह से मृदा संसाधनों की विस्तृत विशेषताओं (गुणों, प्रकारों) प्रलेखनों और आंकड़ों में सुधार लाने के लिए मजबूत ढांचा तैयार किया गया है। यह भूमि के उपयुक्त प्रयोग के लिए हमारे भूमि संसाधन वाले क्षेत्रों की दीर्घकालीन योजना और प्रबंध में सहायक होंगे।

मृदा संरक्षण और विकास

ऐसा अनुमान लगाया गया है कि कुल 329 मिलियन हैक्टेयर में से 175 मिलियन हेक्टेयर में एक या दूसरी तरह का अपरदन और भूमि का अपघटन होता है।

सारणी 1.2 : समस्याग्रस्त मृदाओं का क्षेत्रफल

क्षेत्र	मिलियन हेक्टेयर
– भौगोलिक क्षेत्र	329.00
– क्षेत्र जिसमें जल और वायु क्षरण होता है	150.00
– क्षेत्र जिसमें वायु अथवा सूखापन है	38.74
– 3874 करोड़ है. का वह क्षेत्र जो रेत के टीलों से प्रभावित है।	7.00
– क्षेत्र जिनका विशेष समस्याओं के कारण अपघटन हुआ	25.00
– जलमग्न क्षेत्र	6.00
– क्षारीय मृदाएं	2.50
– लवणीय मृदाएं जिसमें तटीय बलुई क्षेत्र आते हैं	5.50
– टाटियां और नालियां	3.97
– झूम खेती वाले क्षेत्र	4.36
– छोटी नदियां और जलधारा	2.73
कुल योग	

स्रोत

केंद्रीय मृदा और जल संरक्षण अनुसंधान और प्रशिक्षण संस्थान, देहरादून और इसके चंडीगढ़, कोटा, आगरा, वसाद, बलोरी और ऊटकमंड स्थित क्षेत्रीय केंद्रों ने भी मृदा और जल संरक्षण उपायों को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन उपायों से मृदा और जल संरक्षण से होने वाले भू–अपघटन को रोका जा सकता है। भारत का मृदा क्षरण का मानचित्र (1977) तैयार किया गया है जिसमें विभिन्न मृदा संरक्षण के क्षरण की समस्याओं का चित्रण किया गया है।

इस संस्थान ने जिन कृषि क्रियाओं को विकसित किया है उनमें

कृषि संबंधी, इंजीनियरी और सस्य विज्ञान संबंधी उपायों से भू–उपचार शामिल है। इनसे मृदा अपरदन को रोकने में आने वाली बाधाओं और अपरदित भूमियों का सुधार किया जा सकता है और उन भूमियों पर खेती, कृषि वानिकी और कृषि बागवानी की जा सकती है। लाल मिट्टियों के लिए मृदा संरक्षण के उपाय विकसित किए गए। इन उपायों में कंटर बांध, श्रेणीकृत बांध और कुंड श्रेणीकृत सीमांत मेड़ें और अंतः सीढ़ी प्रबंध की तकनीकें शामिल हैं। काली मृदाओं के लिए भूमि के ढलान के अनुसार कूंटर बांध, श्रेणी बांध, चौड़ी सीढ़ियां आड़ी पलवार की तकनीकें विकसित की गई हैं।

सारणी 10.3 : मृदाविज्ञान पर संस्थान और समन्वित परियोजनाएँ

क्र.सं.	संस्थान परियोजना	क्षेत्रीय केंद्रों की सं.	स्थापनावर्ष
I.	अनुसंधान संस्थान		
	1. केंद्रीय मृदा लवणीयता अनुसंधान संस्थान, करनाल	2	1969
	2. केंद्रीय मरुक्षेत्र अनुसंधान संस्थान जोधपुर	2	1959
	3. केंद्रीय मृदा और जल संरक्षण अनुसंधान और प्रशिक्षण, देहरादून	6	1974
	4. राष्ट्रीय मृदा सर्वेक्षण और भूमि उपयोग आयोजना ब्यूरो, नागपुर	6	1976
	5. भारतीय मृदा विज्ञान संस्थान, भोपाल		1985
II.	प्रायोजना निदेशालय		
	1. बारानी खेती पर समन्वित प्रायोजना, हैदराबाद	23	1970

III.	राष्ट्रीय अनुसंधान केंद्र		
	1. कर्नाटक में काली कपासी मृदाओं का उन्नत केंद्र	–	1974
IV.	समन्वित अनुसंधान प्रायोजनाएं		
	1. मृदा और पौधों में सूक्ष्म पोषक तत्वों पर समन्वित प्रायोजना	9	1969
	2. लवण प्रभावित मिट्टियों और खेती में खारे पानी के प्रयोग पर प्रबंधन	7	1970
	3. फसल पैदावार में मृदा परीक्षणों के सहसंबंध पर अन्वेषण	14	1969
	4. समस्याग्रस्त क्षेत्रों में कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए मृदा सुधार के लिए समन्वित प्रायोजना	11	1969
	5. फार्म और नगर अवशेषों का सूक्ष्म जैविक अपघटन और पुनः उपयोग पर समन्वित प्रायोजना	8	1967
	6. जैविक नाइट्रोजन स्थिरीकरण पर समन्वित प्रायोजना	11	1979
	7. सस्य अनुसंधान संस्थान, एन ए ई–43, ई सी एफ–52 पर सस्य वैज्ञानिक अनुसंधान प्रायोजना	95	1953
	8. दीर्घ कालीन उर्वरक प्रयोगों पर समन्वित प्रायोजना	11	1970

(स्रोत : भट्ट, विद्याशरण (1987) अंत उत्पादन में आत्म–निर्भरता का युग, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली।

यह संस्थान शिवालिक और अरावली के ढलान वाले क्षेत्रों के लिए स्थिरीकरण और नवीकरण के लिए प्रौद्योगिकी पर भी कार्य कर रहा है। इस संस्थान ने चंडीगढ़ के पास सुखोमजरी में जल सुधार विकास पर जो कार्य किया है उससे भूमि और जल प्रबंधन की वैज्ञानिक विधियों के क्षमता मूल्यों का पता चलता है। तदनुसार हाल के वर्षों में सक्रियात्मक परियोजना के लिए जगह का चयन करते समय जल संभर बनाने के लिए विकास कार्यक्रम के अंतर्गत विशेष बल दिया गया। राज्य सरकारों के स्टाफ को मृदा सर्वेक्षण में प्रशिक्षण भी दे रहा है।

हिमालय और हिमालय की तराई वाले क्षेत्रों की मृदाओं का सघन वनों की कटाई और झूम खेती के कारण काफी अपघटन हुआ है। उत्तर–पूर्वी पहाड़ी क्षेत्रों के लिए भा.कृ.अनु.प. अनुसंधान काम्प्लेक्स ने झूम खेती के स्थान पर एक अधिक उत्पादक और संरक्षण आधारित भू–प्रबंध पद्धति को विकसित किया है।

शुष्क क्षेत्र प्रौद्योगिकी और मरुक्षेत्र

देश के गर्म शुष्क क्षेत्रों में मरु मृदाएं 3 लाख 20 हजार वर्ग कि. मी. फैली हुई है। इस पर 14 मिलियन जनसंख्या और इससे भी अधिक पशु रहते हैं। केंद्रीय मरुक्षेत्र अनुसंधान संस्थान, जोधपुर और इसके पाली, बीकानेर और राजस्थान के जैसलमेर उपकेंद्रों में सुधरी शुषक क्षेत्र प्रौद्योगिकी को शुरू किया गया है।

उन्नत कृषि विविधों के लिए उपयुक्त वैकल्पिक पद्धतियों के साथ भूमि उपयोग के लिए उन्नत विधियां विकसित की गई हैं। उपयुक्त वैकल्पिक्र पद्धतियों में सस्य वानिकी, कृषि बागवानी और वन के लिए चरागाह बारानी दशाओं में उगाई जाने वाली फसलों के प्रबंधन शामिल हैं। इसमें भूमि की जैव क्षमता और जल धारण क्षमता बढ़ जाती है और मृदा क्षरण को रोका जा सकता है, क्योंकि ये फसलें तेज वायु से सुरक्षा प्रदान करती हैं और एक जगह से दूसरी जगहों

पर जाने वाले मिट्टी के टीबों का स्थिरीकरण हो जाता है। सौर ऊर्जा के बहुमुखी उपयोग के लिए खेतों और फार्मों में इस्तेमाल की जाने वाली कई विधियों को संस्थान ने विकसित किया है।

बारानी क्षेत्रों में उत्पादन सुधार

वर्ष 1965–66 में अधिक पैदावार देने वाली किस्मों और संकरों की जानकारी नहीं थी। तब बारानी क्षेत्रों में खाद्यान्न फसलों (अनाज) और दूसरी फसलों का उत्पादन बहुत कम था। बारानी फसलों की उत्पादकता को बढ़ाने के लिए समेकित भूमि और कृषि क्रियाओं को शुरू करने के लिए बारानी खेती के लिए अखिल भारतीय समन्वित अनुसंधान प्रायोजना वर्ष 1970–71 में कनाड़ा अंतर्राष्ट्रीय विकास एजेंसी के सहयोग से शुरु की गयी। सी.जी.आई.ए.आर. पद्धति के अंतर्गत अर्ध शुष्क ऊष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों के लिए सन् 1972 में अंतर्राष्ट्रीय फसल अनुसंधान संस्थान की स्थापना की गई।

स्थान विशेष की सुधरी मृदा और विभिन्न मृदाओं तथा कृषि जलवायवीय क्षेत्रों के लिए वर्षा जल प्रबंध विधियों को बारानी खेती पर अखिल भारतीय समन्वित अनुसंधान प्रायोजना के 23 सहयोगी केंद्रों में पूरी तरह विकसित किया गया। इसमें प्रारंभिक जुताई, भूमि की तैयारी और अंतः फसल क्रियाएं आती हैं। इससे मृदा में आर्द्रता संग्रहण क्षमता बढ़ती है, बेकार बहकर जाने वाले पानी को फार्म तालाबों में इकट्ठा करके पुनः उसे सिंचाई के काम में लाया जाता है और सुधरी हुई फसल क्रियाओं को अपनाया जाता है। इस परियोजना के अंतर्गत मृदा और वर्षा जल प्रबंध प्रौद्योगिकी और भूमि के वैकल्पिक उपयोग संबंधी प्रबंध तकनीक द्वारा दस करोड़ हैक्टेयर बारानी भूमि को निरंतर उत्पादक बनाए रखने में सहायता मिली।

इस परियोजना और इसके अंतर्गत व्यावहारिक अनुसंधान परियोजनाओं और प्रयोगशाला से खेतों तक कार्यक्रमों से अनुभव के अनुसार बारानी फसलों की पैदावार 100 से 300 प्रतिशत तक बढ़

सकती है। यह प्रायोजना और सी.एस.डब्ल्यू.सी.आर.टी.आई. देश के 47 मॉडल जलसंभरों के समेकित विकास के लिए तकनीकी सहायता दे रहे हैं। इनके अनुभव से पता चलता है कि आगामी पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान देश के बारानी क्षेत्रों में इसे बड़े पैमाने पर अपनाया जा सकता है।

मृदा संरक्षण की आवश्यकता

वर्ष 1966–84 के दौरान खेती, मृदा और भू–प्रबंधन के वैज्ञानिक तरीकों को बड़े पैमाने पर अपनाने से हम न केवल खाद्यान्न के क्षत्र में आत्मनिर्भर हुए हैं, बल्कि भारी मात्रा में अनाज का भंडारण भी कर लिया है। विभिन्न प्रकार की मृदाओं और सस्य क्रियाओं के उपयुक्त मृदा प्रबंध तकनीकी को अपनाने से अधिक उत्पादन की जो प्रवृत्ति थी, उसको बनाए रखा है।

पूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने फ्रेंक मकडूगलन मेमोरियल लेक्चर में कहा था– "शुरू में अज्ञानता के कारण मिट्टी कटती रही जिससे उर्वरा शक्ति में कमी आई और बाद में लालच और हठधार्मिता के कारण नष्ट होती गई। आज मिट्टी को अज्ञानता के कारण संकट नहीं है बल्कि जानबूझ कर मिट्टी के लिए संकट पैदा किए जा रहे हैं। इससे इस बात का पता चलता है कि देश के मृदा संरक्षण और भूमि संरक्षण संसाधनों की लगातार देखभाल और उपयुक्त मात्रा में प्राकृतिक पारिस्थितिक तंत्र की संरक्षण की आवश्यकता है जिससे कि मृदा संसाधनों से कम समय में फायदा उठाने से मृदा उत्पादकता और मृदा पर प्रभाव न पड़े। देश में मृदा प्रबंध अनुसंधान इस संपत्ति को सुरक्षित रखने में सहायक होंगे।"

अध्याय 11

उपसंहार

सभ्यता के प्रथम प्रभात से ही मृदा का उपयोग खेती करने के लिए होता रहा है और आगे भी होना है, इसलिए मृदा की सुरक्षा पर विशेष ध्यान देने की विलम्ब आवश्यकता है। बढ़ती आबादी को भोजन तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं को उपलब्ध कराने की क्षमता बहुत कुछ मृदा के अच्छे स्वास्थ्य पर निर्भर है।

इसे एक विडम्बना ही कहा जाएगा कि सारी दुनिया में उस उपजाऊ मृदा की महीन परत के साथ के महत्वपूर्ण संबंध को कभी कभी भुला दिया जाता है जो भोजन, कपड़ा, इमारती सामान, मनोरंजन सौंदर्य और ऊर्जा का कुछ अंश उपलब्ध कराती है। वास्तव में सभ्यता के विकास के साथ–साथ मनुष्य की भोगवादी प्रकृति का विकास हुआ। अपनी सुख–सुविधा के लिए उसने जंगलों का सफाया करना प्रारंभ किया। फलस्वरूप मृदा क्षरण की स्थिति उत्पन्न हो गई। इसमें कोई संदेह नहीं कि मृदा हमारा बुनियादी साधन है, जिसे खींचतान कर बढ़ाया या फैलाया नहीं जा सकता। उपजाऊ मृदा की मात्र 1 सेमी. मोटी ऊपर की परत बनाने में प्रकृति को लगभग 300 वर्ष लगते हैं जबकि हमारे यहां हर साल 600 करोड़ टन मृदा क्षरण के कारण बह जाती है। यही नहीं, इस मृदा के साथ बहकर चले जो हैं 84 लाख टन पोषक तत्व।

यह एक स्थापित सत्य है कि जिस वस्तु की बहुलता होती है उसकी अपेक्षा करना मानव का स्वभाव रहा है। बूंद–बूंद जल का महत्त्व तब महसूस होता है जब जल स्रोतों में जल का अभाव हो जाता है। मृदा–जैसे महत्वपूर्ण साधन का भी आज कई तरह से दुरुपयोग किया जा रहा है। इससे भविष्य–पदार्थ उत्पादन स्थिर हो जाएगा अथवा घटेगा और एक दिन ऐसा भी आ सकता है कि मृदा भोजन, वस्त्र इत्यादि उत्पादन के लायक ही नहीं रह पाएगी।

मृदा की उपलब्धता

भूमि की प्रति व्यक्ति उपलब्धता जहां वर्ष 1950–51 में 0.34 हेक्टेयर थी, वह वर्ष 2025 तक घटकर 0.12 हेक्टेयर होने वाली है। यही नहीं, जो भूमि उपलब्ध है, उसका भी प्रतिवर्ष 16.35 टन प्रति हैक्टेयर की दर से अपरदन अधिकतम उचित दर से काफी ज्यादा है।

कुल 329 मिलियन हेक्टेयर भौगोलिक क्षेत्रफल वाले भारत देश को कुल वैश्विक जनसंख्या के 17 प्रतिशत भाग को भोजन खिलाने की जिम्मेदारी है, वह भी विश्व के 2.5 प्रतिशत भू–क्षेत्रफल तथा 4 प्रतिशत ताजा जल से। वर्ष 2005 तक 1.4 बिलियन जनसंख्या के लिए 310 मिलियन टन (वर्तमान की 230–235) मिलियन टन की तुलना में) खाद्यान्नों की जरूरत का अनुमान है।

अपरदन की प्रति और सीमा

कृषि को अनुपयुक्त प्रणालियां, सिंचाई की कमी, अनियमित वर्षा, छोटी जोतों का होना और चरागाहों की अधिक चराई, तथा अत्यधिक कटाई आदि सभी के कारण मृदा क्षरित और अनुपजाऊ हो जाती है। विस्तृत और व्यापक खेती के कारण भी मृदा और पौधों के आहार में भारी कमियां हो जातीं हैं।

मरुस्थल बड़ी–बड़ी अकृष्य बेकार भूमियों और छोटी पहाड़ियों के अत्यधिक क्षरित स्थल तथा अवसीमांत भूमियां मृदा अपरदन का ही

परिणाम है। भूमि का गलत ढंग से प्रयोग करने तथा क्षरण के प्रति उचित सावधानियां बरते बिना लगातार खेती करने में अपरदन और अधिक हो जाता है तथा भूमि की उत्पादनशीलता समाप्त हो जाती है। मृदा की उर्वरता के समाप्त होने के कारण वनस्पति आवरण धीरे–धीरे कम होता जाता है, जिससे मृदा अपरदन बहुत अधिक बढ़ जाता है। जब तक भूमि पूरी तरह से अनुपजाऊ नहीं हो जाती और उसमें खेती करना नहीं छोड़ दिया जाता, तब तक इस प्रकार का क्षरण होता रहेगा।

मृदा संरक्षण कार्यों का अनुरक्षण

बंधों, वेदिकाओं और अन्य मृदा संरक्षण कार्यों के उपयुक्त अनुरक्षण एवं तात्कालिक मरम्मत के महत्व पर तत्काल बल देने की आवश्यकता है। इनमें से किसी की भी उपेक्षा करने से भूमि सुधार की सम्पूर्ण कार्य पद्धति ही खतरे में पड़ सकती है। अनेक बंधों में से किसी एक बन्ध के टूटने से क्षेत्र के सभी निचले बंध टूट जाएंगे। प्रभावशाली ढंग से कार्य करने के लिए अनुरक्षण और सुधार संबंधी कार्यों को दो वर्गों–सामान्य एवं विशिष्ट में विभाजित करना उपयुक्त है।

अपने खेत में बंधों और वेदिकाओं का उपयुक्त आकार में अनुरक्षण करने की सारी जिम्मेदारी प्रत्येक किसान को अलग–अलग सौंप दी जानी चाहिए। बरसात शुरू होने से पहले उसे यह देख लेना चाहिए कि–

क. बंधों के सभी छेदों को भर दिया जाए,

ख. प्राकृतिक दृष्टि से या बंध के ऊपर से मनुष्यों एवं प्राणियों के आवागमन और यन्त्रों के लाने ले जाने के कारण नीचे धंसे हुए बंधों के सभी निचले भागों को ठीक करके उपयुक्त ऊंचाई और आकार का बना दिया जाए।

ग. बंधों में चूहों और खरगोशों के सभी बिलों को उपयुक्त सामग्री से भर दिया जाए और

घ. सभी उत्प्लाव उद्बंधों में समुचित मरम्मत कर दी जानी चाहिए।

कहा जा सकता है– पर बरसात के दौरान भी ध्यान रखना चाहिए ताकि क्षति को समय पर ही रोका जा सके और निचले क्षेत्रों को भावी क्षति से बचाया जा सके।

यदि भंयकर वर्षा के कारण किसी परियोजना की सम्पूर्ण बन्ध निर्माण पद्धति से महान क्षति हो गई है तो यह उपयुक्त होगा कि वरिष्ठ मृदा संरक्षक मूल कारक का पता लगाने के लिए परियोजना की जांच करे। इस प्रकार के सुधारों को "विशिष्ट" सुधारों के अंतर्गत रखा जा सकता है।

भूमियों को सक्षम बनाने के लिए किसानों को सुझाव दिया जाना चाहिए कि वे अपनी भूमियों पर घास की ऐसी स्थानीय किस्में उगाएं जो न केवल बड़े बंधों की ही सुरक्षा करे, बल्कि पशुओं के लिए चारा भी प्रदान करें। उन्हें बड़े बंधों पर पंक्तियों में वृक्ष लगाने के लिए भी प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। वृक्षों की ये कतारें न केवल खेतों की सुरक्षा के लिए वायुरोधक ही सिद्ध होंगी, बल्कि कृषि संबंधी और घरेलू उपयोग के लिए कुछ लकड़ी भी प्रदान करेंगी।

समोच्च खाई बनाना

किसी भी मृदा संरक्षण परियोजना में काफी भाग अत्यधिक खड़े ढाल वाला होता है जो कि कृषि के लिए उपयुक्त नहीं है। इस प्रकार के क्षेत्र केवल चरागाह के लिए या कुछ अनुकूल स्थानों पर वनरोपण के लिए उपयुक्त होते हैं। अधिक ढाल वाले और बंजर क्षेत्रों (जो कृषि के लिए अनुपयुक्त हों) में समोच्च खाइयां बनाई जाती है या मुख्य उद्देश्य इन वेदिकाओं के रूप में विद्यमान रूकावटों से जल के वेग को कम करके मृदा अपरदन तीव्रता को घटाना और इस प्रकार के अपवाह जल को उपयुक्त निकासी की ओर मोड़ना या जहां कहीं

है–

क. थाला बनाना

इस विधि के अंतर्गत बेसिन लिस्टर नामक विशिष्ट उपकरण का प्रयोग करके ऐसे गढे या थाले बनाए जाते हैं जिन्हें भूमि के ढाल के आरपार नियमित फासलों पर अवरुद्ध कर लिया जाता है। अपवाह का काफी भाग इन थालों में इकट्ठा हो जाता है और आर्द्रता संरक्षण के द्वारा अपरदन को नियंत्रित करने में सहायता प्राप्त होती है। यह विधि बहुत कम तथा अनियमित वर्षा वाले भू-भागों और अवशोषी मृदा परिस्थितियों से युक्त 2 प्रतिशत तक की ढालों पर विशेष रूप से उपयोगी होती है।

ख. मृदा के कड़े तल को तोड़ना

कभी-कभी मृदा पृष्ठ के निकट लगातार एक ही गहराई तक जुताई करने के कारण तल कड़ा बन जाता है। इस प्रकार की मृदाओं में बरसाती जल का अंतः स्रवण बहुत कम होता है। इसे "पैन ब्रैकर" नामक विशिष्ट उपकरण से तोड़कर सुधारा जा सकता है। इस उपकरण को ढलान के आर-पार 3-6 फुट के नियमित फासले पर प्रयुक्त किया जा सकता है, ताकि मृदा में सुरंग बन जाए। इससे बरसाती पानी का अंतःस्रवण होने लगेगा और अपवाह जल का आयतन कम हो जाएगा। परिणामतः मृदा अपरदन भी घट जाएगा।

ग. अवभूमि की गहरी जुताई

कठोर, ठोस और अभेद्य अवमृदा स्तर के ऊपर स्थित उथली मृदाओं पर भयंकर बरसाती तूफानों के बाद अपवाह जल के अधिक आयतन के कारण पर्याप्त मृदा अपरदन होने लगता है। इस अवस्था में, अवमृदा स्तर को अवश्य तोड़ दिया जाना चाहिए, ताकि अवमृदा सतही परत के ऊपर न आ जाए। इसे "अवभूमि हल" से तोड़ा जा सकता है। यह उपकरण अवमृदा को तोड़ कर ढेलों को उनकी मूल

स्थिति में ही छोड़ देता है, ताकि उनमें नमी का समावेश हो सके और पौध की बहुत अच्छी वृद्धि के लिए गहरी क्यारियों का निर्माण किया जा सके।

वर्ष 1965–66 में अधिक पैदावार देने वाली किस्मों और संकरों के विकास से देश में हरितक्रांति आई। लगभग 53 वर्षों बाद हम आज पुनः यह अनुभव करते हैं कि कृषि के क्षेत्र में फिर एक क्रांति आनी चाहिए। इसके लिए सर्वप्रथम हमें मृदा को उर्वरक तथा उत्पादक अवस्था में रखना है। मृदा को जीवित, कार्यशील और उपयोगी बनाए रखने के लिए इसका पोषण करना अति आवश्यक है। इसकी ऊपरी सतह के ह्रास का प्रारंभ इसकी रचनात्मक क्रिया अति आवश्यक है। इसकी ऊपरी सतह के ह्रास का प्रारम्भ इसकी रचनात्मक क्रिया का एक अंग तो अवश्य है पर उसकी मात्रा सीमित है। इसी सीमा का उल्लंघन करते ही भू-अपरंदन व उत्पादन शक्ति का ह्रास आरंभ हो जाता है। वनों को काटकर, चरागाहों को नष्ट कर, भूमि को हरियाली से खाली रख, चुने हुए सस्यों का ही बार-बार उत्पादन कर मनुष्य ने अनजाने में वह वातावरण उपस्थित किया जिससे भू-अपरदन व्यापक रूप से होने लगा। साथ ही इससे बंजर स्थानों की भी वृद्धि हुई।

हमारे अवैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण आज एक तरफ तो मृदा के अपरदन में वृद्धि हो रही है दूसरी ओर उपजाऊ मृदा का अन्य कार्यों के लिए उपयोग कर लिया जा रहा हैं। नहरें बनाने, सड़कों के निर्माण, उद्योग धंधे लगाने, नगरों के विस्तार, कस्बों के आसपास भवन निर्माण, मनोरंजन के लिए उद्यान/पार्क इत्यादि बनाने, कूड़ा-करकट एवं नगरों के अवशेषों से मृदा पाटने, ईटों के भट्ठों की बाढ़-जैसे अजगरी रूप लेने वाले कार्य उपजाऊ मृदा के हजारों हेक्टेयर क्षेत्रफल का प्रतिवर्ष अपने में समेटते जा रहे हैं। जैसे-जैसे रासायनिक उर्वरकों का प्रचलन बढ़ता जा रहा है, जैविक खादों (कम्पोस्ट, गोबर, हरी खाद) का उपयोग घट रहा है। साथ ही फसलों की सुरक्षा हेतु कीट-व्याधि-खरपतवारनाशी इत्यादि तमाम कृषि रसायनों का उपयोग

बढ़ रहा है। परिणामस्वरूप मृदा की भौतिक, रासायनिक एवं जैविक दशाएं दुष्प्रभावित हो रही हैं।

हमारा एक आवश्यक कार्यक्रम यह भी होना चाहिए कि भूमि उपयोग पर कानून बनाकर हमें उपजाऊ मिट्टी को केवल कृषि उत्पाद के काम में ही लाना है न कि सड़कें, भवन, उद्योग धन्धे या पार्क इत्यादि बनाना है। इसके लिए वैधानिक दंड ही व्यवस्था की जानी चाहिए। साथ ही उपजाऊ मृदा पर कूड़ा-करकट, घरेलू मल-जल तथा उद्योगों के अपशिष्ट का जमाव नहीं होने देना चाहिए। रासायनिक उर्वरकों का संतुलित प्रयोग किया जाए तथा आवश्कता पड़ने पर उनका प्रयोग जैविक खादों के साथ करना चाहिए। इसी प्रकार कीट, व्याधि एवं खरपतवार नाशियों (पीड़कनाशियों) का भी अल्पतम प्रयोग किया जाना चाहिए। सिंचाई हेतु प्रयोग किए जाने वाले प्रदूषित जल को उपचार के पश्चात् ही प्रयोग किया जाना चाहिए।

❑❑❑

परिशिष्ट :

I – उपयोगी सारणियां

सारणी –1 : विभिन्न कारणों से मिट्टी का निम्नीकरण (Degradation)

मिट्टी के निम्नीकरण के कारक	निम्नीकृत भूमि (लाख हेक्टेअर में)	प्रतिशत (कुल का)
1. पानी और हवा से गंभीर भू-अपरदन	1,500	85.7
2. झूम खेती द्वारा	30	1.7
3. क्षारीय भूमि	25	1.4
4. दियारा भूमि	24	1.4
5. सुधारने योग्य भूमि	66	3.8
6. क्षार	45	2.6
7. पानी का जमाव (जल मग्नता)	60	3.4

स्त्रोत : नेगी प्रीतम सिंह (1991) परिस्थितिकीय विकास एवं पर्यावरण भूगोल, रस्तोगी एंड कंपनी, सुभाष बाजार, मेरठ

सारणी–2 : प्रमुख भूमि समूह

मृदा समूह	मृदा वर्ग
1. दोमट भूमि	एण्टीसॉल, इन्सेप्टीसॉल, एल्फीसॉल
2. काली भूमि	वर्टीसॉल, इन्सेप्टीसॉल, एण्टीसॉल
3. लाल मिट्टी	एल्फीसॉल, इन्सेप्टीसॉल, एण्टीसॉल
4. लेटेराइट	एल्फीसॉल, ऑक्सीसॉल, अल्टीसॉल
5. मरुस्थल भूमि	एण्टीसॉल, एरिडीसॉल

स्रोत : गौतम, नरेश चन्द्र, तिवारी, रमेश चन्द्र, परिचयात्मक कृषि, युनिवर्सिटी पब्लिकेशन दिल्ली।

सारणी–3 : मृदा के भौतिक, रासायनिक एवं जैविक गुण

भौतिक गुण	रासायनिक गुण	जैविक गुण
मृदा गठन, सरंचना, भूमि जल, मृदा–वायु, भूमि, ताप रंग घनत्व	पीएच.मान, लवणता खनिज तत्व, कोलॉइड आयरन विनियम पोषक तत्वों की मात्रा, जीवांश, ह्यूमस, कार्बन नाइट्रोजन अनुपात।	मृदा सूक्ष्म जीव– जीवाणु, फफूंद एक्टिनोमाइसिट्स शैवाल, प्रोटोजोआ, कीड़े–मकोड़े एवं पादप जड़ें।

स्रोत : गौतम, नरेश चन्द्र तिवारी, रमेश चन्द्र (2004) परिचयात्मक कृषि युनिवर्सिटी पब्लिकेशन, दिल्ली)

सारणी–4 : भूमि क्षमता वर्गीकरण (land capability classification)

कृष्य भूमि

वर्ग	गुणधर्म	उपयोग
वर्ग I	समतल–अच्छी भूमि	गहन खेती के लिए उपयुक्त
वर्ग II	भूमि संरक्षण की आवश्यक सीमाएं	कुछ सुधार, सरंक्षण पश्चात अच्छी खेती हो सकती है।
वर्ग III	अत्यधिक सीमाएं, गहन	भूमि संरक्षण व उर्वरता बढ़ाकर खेती संभव।
वर्ग IV	खराब मिट्टी	3–4 वर्ष में एकाध फसल उगाई जा सकती है।

स्रोत : गौतम, नरेश चन्द्र तथा तिवारी, रमेश चन्द्र (2004) परिचयात्मक कृषि, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, दिल्ली

अकृष्य भूमि

वर्ग V	दलदली, कटी–बही, जुताई करना कठिन	चारा घास उगाने व वृक्षारोपण के लिए उपयुक्त
वर्ग VI	उथली ढालू, कटी बही	फसल लेना कठिन, चरागाह तथा लकड़ी के लिए वृक्ष लगाने लायक
वर्ग VII	उथली–पुथली, कटी बही ढालू	केवल चराई के लिए उपयुक्त
वर्ग VIII	पथरीली चट्टानों वाली	केवल मनोरंजन तथा जंगली पशुओं के लिए।

स्रोत : गौतम, नरेश चन्द्र तथा तिवारी, रमेश चन्द्र (2004) परिचयात्मक कृषि, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, दिल्ली।

सारणी–5 : लवणीय तथा क्षारीय भूमि में अंतर

	लवणीय भूमि	क्षारीय भूमि
पी एच. मान	8.5 से कम	8.5 से अधिक
विद्युत चालकता	4.0 से अधिक	4.0 से कम
रंग	सफेद (बर्फ की तरह)	काला
संरचना	हल्की धूल की तरह	कठोर
सोडियम की मात्रा (प्रतिशत)	विनिमेय सोडियम 15 प्रतिशत से कम	विनिमेय सोडियम 15 प्रतिशत से अधिक
सुधार की विधि	निक्षालन, जल निकासी	पाइराइट या जिप्सम का प्रयोग

सारणी–6 : पौधों के पोषक तत्वों के दैहिकी कार्य तथा उनकी कमी से होने वाली हानि व लक्षण

तत्व	पौधों में कार्य	पौधों में कमी का प्रभाव
नाइट्रोजन	वानस्पतिक वृद्धि करता है, पत्तियों के हरित रंग तथा प्रकाश संश्लेषण में सहायक, फास्फोरस एवं पोटेशियम के भरपूर उपयोग में सहायक, प्रोटीन, एमिनो अम्ल तथा एंजाइम की शरीर रचना का अंश है।	कमी में (नीचे की) पत्तियां पीली पड़ जाती हैं। पौधा बौना तथा अंतः गांठे छोटी रह जाती हैं।

तत्व	पौधों में कार्य	पौधों में कमी का प्रभाव
फॉस्फोरस	पौधों की जड़ों का समुचित विकास एवं पकने की अवधि कम करता है। पौधों को गिरने से बचाता है। ऊर्जा का स्रोत है। दलहनी फसलों में नाइट्रोजन का स्थिरीकरण बढ़ाता हैं।	जिन चारों में फॉस्फोरस की कमी होती है उनको खाने वाले पशु बौने रह जाते हैं। पत्तियों पर ललछर बैंगनी रंग दिखाई पड़ती हैं। दाने व फल कम बनते हैं।
पोटैशियम	पौधों में रोग निरोधक क्षमता बढ़ती है। कीट पतंगों का प्रकोप कम होता है। पानी की कमी और अधिकता दोनों में पौधों की सुरक्षा करता है। दाने व उत्पादन की गुणवत्ता सुधर जाती है। दलहनों तथा तिलहनों को अधिक मात्रा चाहिए।	पत्तियों पर सफेद धब्बे, किनारों का सूख जाना, जले धब्बे—जैसा रूप, हरिमा हीनता, पत्तियों के किनारे एवं शीर्ष जले हुए प्रतीत होते हैं। खाद्यान्न फसलें आसानी से गिर जाती हैं।
गंधक (सल्फर)	तेल तथा प्रोटीन की मात्रा तथा गुणवत्ता में सुधार, नाइट्रोजन का संतुलित उपयोग, प्याज, धनिया, लहसुन, फूलगोभी, मूली, शलगम में काफी मात्रा में पाए जाते हैं।	ऊपरी पत्तियां पीली पड़ जाती हैं। फल का आकार बेडौल हो जाता है। रस की मात्रा घट जाती है।

तत्व	पौधों में कार्य	पौधों में कमी का प्रभाव
कैल्शियम	पौधों की कोशिका भित्तियों का प्रमुख अंश है, भूमि में सूक्ष्म जीवों में सक्रियता लाता है, अन्य तत्वों की उपलब्धता में वृद्धि करता हैं।	कमी में जड़ों का शीर्ष सूख कमी से अम्लीय मृदा में लोह, ऐलुमिनियम आदि विषाक्त हो जाते हैं।
मैगनीशियम	हरित पदार्थ का प्रमुख अवयव है, तेल बनने में सहायक होता है।	पुरानी पत्तियों पर प्रभाव पड़ता है। हरिमाहीन हो जाती हैं। आंवला की पत्तियों पर धब्बे, सोयाबीन की पत्त्यिों का पीलापन आदि।
सूक्ष्म मात्रिक तत्व	पौधों की विभिन्न शरीर क्रियाओं के लिए एंजाइमों से इन तत्वों का संबंध होने से उनकी सक्रियता प्रभावित करते हैं। सूक्ष्म तत्व एंजाइम के जुड़ने से उनकी सक्रियता बढ़ती हैं।	जस्ता की कमी से धान में खैरा रोग, लोहे की कमी से हरिमाहीनता, पत्त्यिों पर धब्बे बनना, मैंगनीज की कमी के लक्षण हैं। इसी प्रकार सभी तत्वों की कमी से विशेष लक्षण दिखाई पड़ते हैं।

सारणी–7 : प्रमुख रासायनिक उर्वरक और उनमें पोषक तत्वों की उपलब्ध मात्रा (प्रतिशत)

उर्वरक का नाम	नाइट्रोजन	फॉस्फोरस (P_2O_5)	पोटैशियम (K_2O)	गंधक (2S)	जिंक
अ. नाइट्रोजनधारी					
अमोनियम् सल्फेट	20–21	–	–	25	–
अमोनियम् क्लोराइड	26	–	–	–	–
यूरिया	46	–	–	–	–
कैल्शियम अमोनियम् नाइट्रेट	26	–	–	–	–
ब. फॉस्फोरसधारी					
सिंगल सुपर फास्फेट	–	16	–	12	–
डाई अमोनियम् फॉस्फेट	18	46	–	–	–
रॉक फास्फेट	–	20	–	–	–
स. पोटाशधारी					
पोटैशियम क्लोराइड	–	–	60	–	–
पोटैशियम सल्फेट	–	–	48	–	–

सारणी–8 : उपयोग के आधार पर फसलों का वर्गीकरण

अनाज या धान्य फसलें

इस वर्ग की फसलों के दाने अनाज के रूप में व्यवहृत होते हैं और इनका सर्वाधिक आर्थिक महत्व है, जैसे धान, गेहूँ जौ, मक्का आदि। इस वर्ग की फसलें घास परिवार की होती हैं।

दलहनी फसलें

इस वर्ग की फसलें लेग्यूमिनोसी परिवार की हाती हैं। सामान्यतः इनका उपयोग दाल के रूप में होता है। ये फसल प्रोटीन का अच्छा स्रोत होती हैं, जैसे– अरहर, चना, मटर, मूंग, उड़द, मसूर आदि।

तिलहनी फसलें

इन फसलों के बीज का उपयोग तेल के लिए किया जाता है। जैसे सरसों, मूंगफली, सूरजमुखी, अलसी, तिल, कुसुम आदि।

शर्करा वाली फसलें

इस वर्ग की फसलों का उपयोग चीनी उद्योग के लिए कच्चे माल के रुप में किया जाता है। ये फसलें अपने तने अथवा जड़ों में पर्याप्त मात्रा में शर्करा का संग्रह कर लेती हैं। गन्ना तथा चुकंदर इसके उदाहरण हैं।

चारे वाली फसलें

ये फसले पशुओं के चारे या साइलेज के रुप में प्रयोग होती हैं। इनके उदाहरण हैं बरसीम, जई, लोबिया, मक्का, सूडान, घास, रिजका आदि।

औषधीय फसलें

पुदीना, सर्पगंधा, सिनकोना–जैसी फसलों की खेती दवा बनाने के लिए की जाती है।

मसाले वाली फसलें

इस वर्ग की फसलों के बीजों, पत्तों, तनों एवं जड़ों का उपयोग मसालों के रुप में किया जाता है। इसके उदाहरण हैं– हल्दी, अदरक, अजवाइन, मेंथी, राई, सौंफ आदि।

कंद एवं जड़ वाली फसलें

इन फसलों की जड़ों एवं कंद को खाने के उपयोग में लाया जाता है, जैसे–आलू, शकरकंद, गाजर, मूली आदि।

हरी खादी की फसलें

इनमें फलीदार व बिना फलीवाली दोनों ही प्रकार की फसलें आती हैं जिनका उपयोग हरी खाद के रुप में किया जाता है। दलहनी पौधों की जड़ों की ग्रंथियों में राइजोबियम जीवाणु होते हैं जो वायुमंडीय नाइट्रोजन को मिट्‌टी में दबा देने से मिट्‌टी की उर्वरा शक्ति बढ़ जाती है। सनई, ढैंचा, मूंग, लोबिया आदि इसके उदाहरण हैं।

सारणी – 9 : फसलों का वानस्पतिक वर्गीकरण

फसलों का वर्गीकरण परिवारों के आधार पर भी किया जाता है। प्रमुख फसलें निम्नांकित वानस्पतिक परिवार की सदस्य हैं।

घास परिवार

धान, गेहूं, मक्का, ज्वार, जई, गन्ना, जौ आदि।

मटर परिवार

अरहर, चना, मटर, उड़द, मसूर, सोयाबीन, मूंगफली, सनई, ढैंचा, लोविया आदि।

कपास परिवार – कपास, भिंडी आदि।

सरसों परिवार – सरसों, राई, तोरी, तारामिरा आदि।

आलू परिवार – आलू, टमाटर, बेंगन आदि

तीसी परिवार – तीसी या अलसी

सूरजमुखी परिवार – सुरजमूखी।

सारणी–10 : विशेष परिवार के आधार पर फसलों का वर्गीकरण

जिन फसलों का उपयोग विशेष परिस्थितियों के लिए किया जाता है। इस आधार पर इनका वर्गीकरण भी किया जाता है।

नकदी फसलें

बहुत–सी फसलें हैं जिनका उपयोग किसान स्वयं नहीं करता परंतु इन्हें नगद पैसा कमाने के लिए उगाता है और तैयार होने पर बेच देता है। ऐसी फसलों में प्रमुख हैं –गन्ना, कपास, जूट, तंबाकू मिर्च, आलू, शकरकंद आदि।

कीट आकर्षक फसलें

मुख्य फसल की कीड़ों से सुरक्षा के लिए खेत के चारों ओर ऐसी फसलें लगा देते हैं जिनके शत्रु एक से हों जिससे मुख्य फसल पर लगने वाले कीड़े किनारे लगाए पौधों को ही नुकसान करें और मुख्य फसल तक न जाएं। जैसे कपास की फसल के चारों तरफ भिंडी की फसल, कीट आकर्षक फसल का काम करती है और कपास पर लगने वाले कीड़ें, भिण्डी पर टूट पड़ते हैं और कपास की फसल बच जाती है।

भू-संरक्षी फसलें

वर्षा तथा हवा से होने वाले अपरदन को रोकने के लिए ऐसी फसलें लगाई जाती हैं जो मृदा की सतह को पूर्णतः ढक लेती हैं और वर्षा की बूंदों एवं हवा से भूमि की रक्षा करती हैं। जैसे मूंग, उड़द, मूंगफली, लूसर्न आदि।

सारणी–11 : भू-उर्वरता पर उनके पड़ने वाले प्रभावों के आधार पर फसलों का वर्गीकरण

मृदा निःशेषक फसलें

ये फसलें जो मृदा से अधिक मात्रा में पोषक तत्व लेकर उसे क्षीण बना देती हैं, मृदा निःशेषक फसलें कहलाती हैं, जैसे–गन्ना, आलू, ज्वार आदि।

मृदा निर्माण फसलें

ये फसलें मृदा निर्माण में मदद करती हैं तथा मृदा की भौतिक तथा रसायनिक स्थिति को सुधारती हैं। दलहनी फसलें, बरसीम तथा बहुवर्षीय घासें इसका उदाहरण हैं।

अपरदन फसलें

ये फसलें भू-अपरदन को बढ़ाती हैं, जैसे ज्वार, बाजरा, मक्का।

अपरदन निरोधी फसलें

दलहनी फसलें तथा अधिकांश घास, भू-अपरदन की किया को रोकती हैं। मूंगफली, मूंग, उड़द, लोबिया आदि इसी वर्ग की फसलें हैं।

सारणी–12 : पानी की आवश्यकता के आधार पर फसलों का वर्गीकरण

इस प्रकार का वर्गीकरण फसल उत्पादन योजना बनाते समय विशेष लाभदायक होता है क्योंकि सस्य योजना में फसलें पानी की उपलब्धता को ध्यान में रखकर उगाई जाती हैं। पानी की आवश्यकताओं को ध्यान रखकर निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है –

अधिक पानी चाहने वाली फसलें – धान, सिंघाड़ा

अधिक सिंचाई चाहने वाली फसलें – गेहूं, आलू, गन्ना, शकरकंद, बरसीम एवं सब्जियों की फसलें।

औसत सिंचाई चाहने वाली फसलें – देशी गेहूं, जौ, जई, मक्का, चरी आदि।

कम सिंचाई चाहने वाली फसलें – चना, मटर, सरसों, अरहर, कुसुम, लघु खाद्यान्न आदि

सूखा सहन करने वाली फसलें – ज्वार, ग्वार, बाजरा, अलसी, कुसुम, लघु खाद्यान्न आदि।

सामग्री–13 : भूमि की किस्म के आधार पर फसलों का वर्गीकरण

भूमि के गठन तथा पीएच.मान के आधार पर फसलों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है–

भारी भूमियों की फसलें– जैसे धान, कपास, गन्ना दोमट भूमियों की फसलें–इस भूमि में प्रायः सभी फसलें उगाई जा सकती हैं।

बलुअर दोमट भूमि की फसलें – आलू, मटर, गाजर, मूली, मूंगफली, शकरकंद आदि।

बलुअर भूमि की फसलें – खरबूज, तरबूज, ककड़ी आदि।

क्षारीय भूमि की फसलें– धान, कपास, जौ, ढैंचा, बरसीम, गोभी, टमाटर, गन्ना, सरसों , मटर, अलसी आदि।

अम्लीय भूमि की फसलें– राई, जौ, वकव्हीट आदि।

सारणी–14 : हरी खाद वाली विभिन्न फसलों का रासायनिक संघटन

फसल	वानस्पतिक नाम	सूखे पदार्थ में पोषक तत्वों की प्रतिशत मात्रा				
		नाइट्रोजन	फास्फोरस	पोटाश	कैल्शियम	मैग्नीशीयम
सनई	क्रोटोलेरिया जंसिया	2.21	0.38	1.47	2.86	0.66
ढैंचा	सेस्बेनिया एकुलिएटा	2.34	0.24	2.97	—	—
लोबिया	विग्ना कैटजंग	2.30	0.55	2.39	2.33	0.95
मूंग	विगना रैडिएटा	2.20	.046	2.10	1.68	0.68
रिजका	मेडिकागो सैटाइबा	3.40	0.59	3.00	1.64	0.57
नील	टेफ्रोलिया कैन्डिठा	3.15	0.50	2.30	2.59	1.01
सोयाबीन	ग्लाइसीन प्रजाति	2.84	0.614	1.359	2.417	0.947

स्रोत : दिनेश मणि (2006) मृदा एवं पादप पोषण, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, नई दिल्ली

सारणी–15 : आयरन पाइराइट की विशिष्ट रासायनिक रचना

रचना तत्व	प्रतिशत मात्रा
कुल गंधक	22—24
लोहा	20—22
मैगनीशियम (आक्साइड के रूप में)	0.5—50.6
कैल्सियम (आक्साइड के रुप में)	0.1
ऐल्युमिनियम	6.8
सिलिका	35—40
कार्बन	2—3
जस्ता	0.02
तांबा	0.05
मैंगनीज	0.01

स्रोत – दिनेशमणि (2006) मृदा एवं पादप पोषण, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, नई दिल्ली

सारणी—16 : उर्वरता वर्ग

मृदा अवयव	निम्न	मध्यम	उच्च
1. जैविक कार्बन (%)	0.5	0.5—75	0.75
2. उपलब्ध नाइट्रोजन	280	280—560	560
3. उपलब्ध फॉस्फोरस (किग्रा / है.)	10.0	10—24.6	24.6
4. उपलब्ध पोटाश (किग्रा है.)	108	108—280	280

स्रोत—दिनेशमणि (2006) मृदा एवं पादप पोषण, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, नई दिल्ली

सारणी—17 : पोषक तत्वों की कमी दर्शाने वाले सांकेतिक पौधे

क्र. सं.	पोषक तत्व प्रतीक	सांकेतिक पौधे
1.	नाइट्रोजन	मक्का, सेब, आड़ू और नींबू
2.	फॉस्फोरस	मक्का, सलाद, जौ और टमाटर
3.	पोटैशियम	आलू, रिजका, सेम, तम्बाकू, कद्दू वर्गीय सब्जियां, बादाम, गन्ना, चुकंदर, गाजर और अनाज की फसलें।
4.	कैल्सियम	बरसीम
5.	मैग्नीशियम	आलू, फूलगोभी, सेब
6.	गंधक	बरसीम, जौ, सेम नींबू, मक्का, सोयाबीन, तम्बाकू

क्र. सं.	पोषक तत्व प्रतीक	सांकेतिक पौधे
7.	बोरॉन	बरसीम, शलजम, पातगोभी, सेब और नाशपाती
8.	तांबा	नींबू, आलू बुखारा, जैतून आड़ू, अखरोट, सेब, जई, जौ, मक्का, तंबाकू, टमाटर और प्याज
9.	लोहा	फूलगोभी, नींबू, यूकेलिप्टस, केल और अकेशिया
10.	मैंगनीज	सेब, चेरी, नींबू और चुकन्दर
11.	मॉलिब्डेनम	टमाटर, पालक, चुकंदर, फूलगोभी, नींबू और घासें
12.	जस्ता	नींबू, आड़ू, मक्का, सेब, कपास, जौ प्याज, ज्वार, टमाटर, जई।
13.	क्लोरीन	टमाटर, गाजर, चुकंदर, गेहूं, बरसीम तथा सेम

स्रोत–दिनेशमणि (2006) मृदा एवं पादप पोषण, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, नई दिल्ली

II – संदर्भ-सूची

1. वसु, जे.के., कैथ, डी.सी. तथा रामाराव, एम.एस.वी. (1973) भारत में मृदा संरक्षण, उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी लखनऊ।
2. वर्मा, उदय कुमार (1977) सस्य विज्ञान के मूल सिद्धांत, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना।
3. मिश्र, विश्वनाथ, शुक्ल, वी. पी. तथा शुक्ल, वी.के. (1983) भूमि एवं जल संरक्षण के सिद्धांत, सिंघल बुक डिपो, बड़ौत, मेरठ।
4. भट्ट, विद्याशरण (1987) अन्न उत्पादन में आत्म निर्भरता का युग, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् नई दिल्ली।
5. नेगी, प्रीतम सिंह (1991) पारिस्थितिकीय विकास एवं पर्यावरण भूगोल, रस्तोगी एण्ड कंपनी, सुभाष बाजार, मेरठ।
6. तिवारी, काशी नाथ (2000) मृदा उर्वरता, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, नई दिल्ली।
7. सेवाराम तथा शर्मा, जी.सी. (2001) कहीं धरती बिगड़ न जाए, खेती, जून, 2001
8. सिंह, अखिलेश कुमार तथा सिंह, जे.के. (2002) जल समेट क्षेत्र प्रबंधन, विज्ञान गरिमा सिन्धु, वर्ष 2002, अंक 40
9. व्यास, एस.सी. (2003), कृषि वानिकी–बारानी खेती के लिए वरदान, खाद पत्रिका, अप्रैल 2003.
10. गौतम, नरेश, चन्द्र तथा तिवारी, रमेश चन्द्र (2004) परिचयात्मक कृषि, युनिवर्सिटी पब्लिकेशन, 7/31, अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली – 110002
11. पैन्यूली, वीरेन्द्र (2006) जलागम प्रबंधन और स्वैच्छिक संस्थाएं, विज्ञान पत्रिका, जुलाई 2006, वर्ष–1, अंक 4. पेज 16–18

12. दिनेश मणि, (2006) मृदा एवं पादप पोषण, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, नई दिल्ली।

13. दिनेश मणि, (2009) भूमि संरक्षण, संस्करण 2009, आइसेक्ट भोपाल।

14. दिनेशमणि, (2008) मिट्टी हमारी सभ्यता की प्रतिबिंब है, अविष्कार, नंवबर 2008 पेज 21–25

15. तिवारी, रमेश चंद्र (2007) मिट्टी और हम, सत्यम् बुक्स जी. 41, मेधा अपार्टमेंट मयूर विहार–फेस 1 नई दिल्ली–110091

16. भार्गव, प्रमोद (2010) भूमि की बिगड़ती सेहत, अविष्कार, जून 2010, पेज 30–31

पारिभाषिक शब्दावली
हिंदी-अंग्रेजी

अपचयन	reduction
अपरदन	erosion
अपक्षय	weathering
अवनालिका	gully
अधिशोषण	adsorption
अनुत्पादक मृदा	unproductive soil
अन्योन्य क्रिया	interaction
अम्लीय मृदा	acidic soil
अवशेष	residue
अवायुजीवी जीवाणु	anaerobic bacteria
अवशोषण	absorption
आक्सीकरण, उपचयन	oxidation
आवश्यक तत्व	essential elements
इकाई	unit
उत्पादकता	productivity
उत्पादक मृदा	productive soil
उत्पादन	production
उदासीनीकरण	neutralisation
उद्योग	industry
उर्वरक	fertilizer
उर्वरता	fertility
एकीकृत, समेकित	integrated
एक्टिनोमाइसिटीज	actinomycetes
कमी	deficiency

कवक	fungi
कार्बनिक जैव पदार्थ	organic matter
कूड़	furrow
फसल अवशेष	crop residue
केंचुआ	earthworm
कैल्साइट	calcite
कैल्शियम	calcium
कम्पोस्ट	compost
कम्पोस्ट बनाना	composting
खनिजी भवन	mineralisation
खरपतवार	weed
खाद	manure
खाद्यान्न उत्पादन	food grain production
गोबर	dung
गोबर की खाद	farm yard manure
द्वितीयक पोषक तत्व	secondary nutrient
ग्रंथिका	nodule
घनत्त्व	desity
घासें	grasses
चरागाह	grassland
उपापचय	metabolism
चूना	lime
चूनेदार मृदा	calcareous soil
चूनेदार मृदा	complex fertilier
जल निकास	drainage
जलवायु	climate
जलोढ़ मृदा	alluvial soil
जैव उर्वरक	biofertilizer

जैव खाद	organic manure
जैव पदार्थ	organic matter
जीव	organism
जीवाणु	bacteria
जीवाणु निवेशक	bacterial inoculant
जीवाणु निवेशन	bacterial inoculation
फसल में खाद बिखेरना	top dressing
टिकाऊ खेती	sustainable agriculture
तत्व	element
तनुकरण	dilution
तापमान	temperature
धनायन विनिमय क्षमता	cation exchange capacity
नाइट्रोजन चक्र	nitrogen cycle
नाइट्रोजन यौगिकीरण	nitrogen fixation
नाइट्रोजन उर्वरक	nitrogen fertiliger
नाइट्रीकरण	nitrification
निक्षालन	leaching
नील हरित शैवाल	blue green algae
पलवार	mulch
पारिस्थितिकी	ecology
पारिस्थितिकी तंत्र	ecosystem
पोषक तत्व	nutrient element
पोटैशियम स्थिरीकरण	potasium fixation
फर्न	fern
फसल, सस्य	crop
फसल–चक्र	crop rotation
फॉस्फोरस स्थिरीकरण	phosphorus fixation
फास्फेटी–उर्वरक	phosphatic fertiliger

फसलीदार–उर्वरक	leguminous crop
बहिस्राव	effluent
बायोगैस	biogas
बेस विनियम	base exchange
क्षारकीय धातुभल, बैसिक धातुभल	basic slag
अनबुझा चूना	quick lime
भूमि	land
भारी धातु	heavy metal
भू-अपरदन, भूक्षरण	soil erosion
मलजल	sewage
मेड़	bund
मेड़बंदी	bunding
मृदा उर्वरता	soil fertility
मृदा उत्पादकता	soil productivity
मृदा परिच्छेदिका	soil profile
मृदा परीक्षण	soil testing
मृदा नमूना	soil sample
मृदा समुच्चय	soil aggregate
मृदा सुधारक पदार्थ	soil amendment
मिश्रित उर्वरक	mixed fertilizer
लवणी भवन	salinigation
लवणता	salinity
लाल मृदा	red soil
लैटराइट मृदा	laterite soil
लेटेराइटीकरण	laterisation
वनस्पति	vegetation
वानस्पतिक वृद्धि	vegetative growth

वायुजीवी जीवाणु	aerobic bacteria
विनिमय क्षमता	exchange capacity
विनिमयशील सोडियम	exchange sodium
प्रतिशतता	percentage
विषाक्तता	toxicity
सस्य, फसल	crop
सस्यीय किया	agronomic practise
शैवाल	algae
शैवालीय निवेशन	algal inoculation
शैवालीय निवेशक	algal inoculant
सकियता	activity
संरक्षण	conservation
संस्तर	horizons
सतही जल	surface water
सांद्रता	concentation
सुधारक	amendment
सूचक पौधे	indicator plants
सूक्ष्मजीव	micro-organism
सूक्ष्मजीवीय किया	microbial activity
सूक्ष्म पोषक तत्व	micro-nutrient element
स्वपोषित जीवाणु	autotrophic bacteria
हरी खाद	green manure
ह्यूमस	humus
ह्यूमस बनना, ह्यूमस भवन,	humification
हानिकारक प्रभाव	harmful effect
क्षारीयता, क्षारता	alkalinity
क्षारीय मृदा	alkaline soil

पारिभाषिक शब्दावली
अंग्रेजी-हिन्दी

absorption	अवशोषण
adsorption	अधिशोषण
acidic soil	अम्लीय मृदा
actinomycetes	एक्टिनोमाइसिटीज
activity	सक्रियता
aerobic bacteria	वायुजीवी जीवाणु
agriculture	कृषि
agricultural residue	कृषि अवशेष
agricultural waste	कृषिजन्य अपशिष्ट
agronomic practise	सस्यीय क्रिया
agroforestry	कृषि वानिकी
algae	शैवाल
alluvial soil	जलोढ़ मृदा
alkalinity	क्षारीयैता, क्षारता
amendment	सुधारक
ammnoifiction	अमोनीभवन
autotrophic bacteria	स्वपोषित जीवाणु
bacteria	जीवाणु
bacterial inoculant	जीवाणु निवेशक
bio-fertilizer	जैव-उर्वरक
biogas	बायागैस
blue green algae	नील हरित शैलाव
base exchange	धनायन विनिमेय
bbasal dressing	मूलखाद देना

basic slag	क्षारकीय धातुमल, बैसिक धातुमल
calcium	कैल्शियम
calcite	कैल्साइट
calcarious soil	चूनेदार मृदा
clay	क्ले (मृत्तिका)
climate	जलवायु
clover	तिपतिया चारा, क्लोवर
compost	कम्पोस्ट
composting	कम्पोस्ट बनाना
complex fertilizer	जटिल उर्वरक
concentration	सांद्रण
conservation	संरक्षण
countour	कंटूर, समोच्च रेखा
contour farming	कंटूर खेती
crop	फसल, सस्य
crop rotation	सस्यावर्तन, फसल--चक्र
cation exchange	धनायन विनिमेय
deficiency	कमी, न्यूनता
density	घनत्व
dung	गोबर
earthworm	केंचुआ
ecology	पारिस्थितिकी
ecosystem	पारिस्थितिकी तंत्र
element	तत्व
environment	पर्यावरण
essential element	आवश्यक तत्व
exchange capacity	विनिमेय क्षमता
exchange sodium	विनियम योग्य सोडियम

parcentage	प्रतिशतता
farm yard manure	गोबर की खाद
fertility	उर्वरता
fertilizer	उर्वरक
fertilizer use efficiency	उर्वरक उपयोग क्षमता
fertile soil	उर्वरता मृदा
fixation	यौगिकीकरण, स्थिरीकरण
food grain production	खाद्यान्न उत्पादन
forestry	वानिकी
fungi	कवक
furrow	कूंड़
grasses	घासें
grassland	चरागाह
green manure	हरी खाद
gully	अवनालिका
gully control	अवनालिका नियंत्रण
harmful effect	हानिकारक प्रभाव
horizon	संस्तर
humification	ह्यूमस बनना, ह–यूमस भवन
humus	ह्यूमस
humidity	·आर्द्रता, नमी
indicator plants	सूचक पौधे
ion exchange	आयन विनिमेय
industry	उद्योग
interaction	अन्योन्य-क्रिया
irrigation	सिंचाई
intergrated	समन्वित, एकीकृत, समेकित

land	भूमि
laterization	लैटेराइटीभवन
laterite soil	लैटेराइट मृदा
leaching	निक्षालन
leguminous crop	फलीदार फसल
magnesium	मैग्नीशियम
manure	खाद
metabolism	उपापचय
micronutrient	सूक्ष्ममात्रिक तत्व
micro-organism	सूक्ष्मजीव
microbial activity	सूक्ष्मजीवी क्रिया
mineralisation	खनिजीकरण
mixed fertilizer	मिश्रत उर्वरक
mulch	पलवार, मल्च
neutralisation	उदासीनीकरण
night soil	विष्ठा, मल
nitrification	नाइट्रीकरण
nitrogen cycle	नाइट्रोजन चक्र
nitrogenous fertilizer	नाइट्रोजनी उर्वरक
nitrification	नाइट्रोजन यौगिकीकरण
nodule	ग्रंथिका
nutrient	पोषक तत्व, पोषक
nutrition	पोषण
organic acid	जैव अम्ल/कार्बनिक अम्ल
organic manure	जैव खाद/कार्बनिक खाद
organic matter	जैव पदार्थ
organism	जीव

oxidation	आक्सीकरण, उपचयन
phosphatic fertilizer	फॉस्फेटी उर्वरक
phosphorus fixation	फॉस्फोरस स्थिरीकरण
potassium fixation	पोटैशियम स्थिरीकरण
production	उत्पादन
productivity	उत्पादकता
profile	परिच्छेदिका
quick lime	अनबुझा चुना
red soil	लाल मृदा
reduction	अपचयन
residue	अवशेष
salinization	लवणीभवन
saline soil	लवणीय मृदा
secondary nutrient	गौड़ पोषक तत्व
spraying	छिड़काव
soil aggregate	मृदा समुच्चय
soil amendment	मृदा सुधारक
soil conservation	मृदा संरक्षण
soil fertility	मृदा उर्वरता
soil productivity	मृदा उत्पादकता
soil profile	मृदा परिच्छेदिका
soil sample	मृदा नमूना
soil testing	मृदा परीक्षण
surface water	सतही जल
sustainable agriculture	टिकाऊ खेती
temperature	तापमान
terrace	पट्टिका
terrace farming	पट्टिका खेती

testing	परीक्षण
tillage	कर्षण / जुताई
top dressing	टॉप ड्रेसिंग / फसल में खाद बिखेरना
toxicity	विषाक्तता
unit	इकाई
unproductive soil	अनुत्पादक मृदा
vegetation	वनस्पति
vegetative growth	वानस्पतिक वृद्धि
vermicomposting	केंचुए से कम्पोस्ट बनाना
vermiculture	वर्मीकल्चर, संवर्धन कृमि
waste land	व्यर्थ भूमि
weathering	अपक्षयण, अपक्षय
weed	खरपतवार
weeding	निराई
zinc	जिंक / जस्ता

आयोग के प्रकाशन

शब्दसंग्रह, शब्दावलियाँ

भौतिकी	
भौतिकी शब्द संग्रह	119.00
अंतरिक्ष विज्ञान शब्दावली	45.00
इलेक्ट्रॉनिकी परिभाषा कोश	22.00
तरल यांत्रिकी परिभाषा कोश	10.00
भौतिकी परिभाषा कोश	700.00
गृह विज्ञान	
गृह विज्ञान शब्द–संग्रह	600.00
कंप्यूटर विज्ञान एवं सूचना प्रौद्यागिकी	
कंप्यूटर विज्ञान शब्दावली	57.00
कंप्यूटर विज्ञान परिभाषा कोश	102.00
सूचना प्रौद्योगिकी शब्द–संग्रह	231.00
रसायन	
रसायन शब्द संग्रह	592.00
इस्पात एवं अलौह धातुकर्म शब्दावली	55.00
उच्चतर रसायन परिभाषा कोश	17.00
धातुकर्म परिभाषा कोश	278.00
रसायन (कार्बनिक) परिभाषा	25.00
रक्षा	
समेकित रक्षा शब्दावली	284.00
गुणता नियंत्रण	
गुणता नियंत्रण शब्दावली	38.00
भाषा विज्ञान	
भाषा विज्ञान शब्दावली (अंग्रजी–हिंदी तथा हिंदी–अंग्रजी)	113.00
भाषा विज्ञान परिभाषा (कोश खंड 1)	89.00
भाषा विज्ञान परिभाषा (कोश खंड 2)	59.00
जीव विज्ञान	
कोशिका जैविकी शब्द–संग्रह	62.00
पर्यावरण विज्ञान शब्द–संग्रह	381.00
प्राणि विज्ञान परिभाषा कोश	216.00
सूक्ष्म जैविकी परिभाषा कोश	45.00
कोशिका जैविकी परिभाषा कोश	121.00
लोक प्रशासन	
लोक प्रशासन शब्दावली	52.00
गणित	
गणित शब्द–संग्रह	143.00
गणित परिभाषा कोश	203.00
सांख्यिकी परिभाषा कोश	18.00
भूगोल	
भूगोल शब्द–संग्रह	200.00
भूगोल परिभाषा कोश	10.00
मानव भूगोल परिभाषा कोश	18.00
मानचित्र विज्ञान परिभाषा कोश	231.00
अनुप्रयुक्त विज्ञान	
प्राकृतिक विपदा शब्दावली	17.00
जलवायु विज्ञान शब्दावली	131.00
वानिकी शब्द–संग्रह	440.00
मनोविज्ञान	
मनोविज्ञान परिभाषा कोश	9.50

मनोविज्ञान शब्दावली 247.00

इतिहास

इतिहास परिभाषा कोश 20.50

प्रशासन

प्रशासन शब्दावली 20.00

प्रशासन शब्दावली (अंग्रेजी–हिंदी) प्रकाशनाधीन

शिक्षा

शिक्षा परिभाषा कोश खंड–1 13.00

शिक्षा परिभाषा कोश खंड–2 99.00

आयुर्विज्ञान

आयुर्विज्ञान परिभाषा कोश (शल्य विज्ञान) 338.00

आयुर्विज्ञान के सामान्य शब्द एवं 279.00 वाक्यांश (अंग्रेजी–तमिल–हिंदी)

समाज शास्त्र

समाज कार्य परिभाषा कोश 16.25

समाज–शास्त्र परिभाषा 71.00

नृविज्ञान

सांस्कृतिक नृविज्ञान परिभाषा कोश 24.00

बृहत्परिभाषिक शब्द–संग्रह

बृहत पारिभाषिक शब्द–संग्रह विज्ञान, खंड 1 87.00

बृहत पारिभाषिक शब्द–संग्रह विज्ञान, खंड 2 87.00

बृहत पारिभाषिक शब्द–संग्रह विज्ञान (हिंदी–अंग्रेजी) 236.00

बृहत पारिभाषिक शब्द–संग्रह मानविकी और सामाजिक विज्ञान खंड 1, 2 292.00

बृहत पारिभाषिक शब्द–संग्रह मानविकी और सामाजिक विज्ञान (हिंदी–अंग्रेजी) 350.00

बृहत पारिभाषिक शब्द–संग्रह कृषि विज्ञान 278.00

बृहत पारिभाषिक शब्द–संग्रह विज्ञान : आयुर्विज्ञान, भेषज विज्ञान, शारीरिक नृविज्ञान 239.00

बृहत पारिभाषिक शब्द–संग्रह : आयुर्विज्ञान कृषि एवं इंजीनियरी (हिंदी–अंग्रेजी) 48.50

बृहत पारिभाषिक शब्द–संग्रह : मुद्रण इंजीनियरी 48.50

बृहत पारिभाषिक शब्द–संग्रह : इंजीनियरी (सिविल, विद्युत यंत्रिकी) 340.00

बृहत पारिभाषिक शब्द–संग्रह : पशु चिकित्सा विज्ञान 82.00

बृहत पारिभाषिक शब्द–संग्रह : प्राणि विज्ञान 311.00

भू–विज्ञान

भूविज्ञान शब्द–संग्रह 88.00

सामान्य भूविज्ञान शब्दावली 101.00

आर्थिक भूविज्ञान शब्दावली 75.00

भूभौतिकी शब्दावली 67.00

शैलविज्ञान शब्दावली 82.00

खनिज विज्ञान शब्दावली 130.00

अनुप्रयुक्त भूविज्ञान शब्दावली 115.00

भूविज्ञान परिभाषा कोश 63.00

संरचनात्मक भूविज्ञान परिभाषा कोश 13.00

संरचनात्मक भूविज्ञान शब्दावली	73.00
शैलविज्ञान परिभाषा कोश	153.00
पेट्रोलियम प्रौद्योगिकी परिभाषा कोश	173.00
खनन ण्वं भूविज्ञान शब्द–संग्रह	32.00
सरंचनात्मक भूविज्ञान एवं विवर्तनिकी शब्दसंग्रह जीवाश्मविज्ञान शब्दावली	129.00

कृषि

रेशम विज्ञान शब्द–संग्रह	50.00
कृषि कीटविज्ञान परिभाषा कोश	125.00
सूत्रकृमि विज्ञान परिभाषा कोश	125.00
मृदाविज्ञान परिभाषा कोश	77.00

इंजीनियरी

रासायनिक इंजीनियरी शब्द–संग्रह	51.00
विद्युत् इंजीनियरी परिभाषा कोश	81.00
यांत्रिक इंजीनियरी परिभाषा कोश	94.00
सिविल इंजीनियरी परिभाषा कोश	10.00

वनस्पति विज्ञान

वनस्पति विज्ञान शब्द–संग्रह	86.00
वनस्पति विज्ञान परिभाषा कोश	75.00
पादप आनुवंशिकी परिभाषा कोश	75.00
पादपरोगविज्ञान परिभाषा	75.00
पुरावनस्पति विज्ञान परिभाषा कोश	80.00

दर्शनशास्त्र

भारतीय दर्शन परिभाषा (कोश खंड 1)	151.00
भारतीय दर्शन परिभाषा (कोश खंड 2)	124.00
भारतीय दर्शन परिभाषा (कोश खंड 3)	136.00
दर्शन शास्त्र परिभाषा कोश	198.00

पुस्कालय विज्ञान

पुस्तकालय विज्ञान परिभाषा कोश	49.00

पत्रकारिता

पत्रकारिता परिभाषा कोश	87.50
पत्रकारिता एवं मुद्रण शब्दावली	12.25

पुरातत्व विज्ञान

पुस्तकालय विज्ञान शब्दावली	
पुरातत्वविज्ञान परिभाषा कोश	509.00

कला

पाश्चात्य संगीत परिभाषा कोश	343.00
प्रबंधविज्ञान परिभाषा कोश	170.00

अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र परिभाषा कोश	117.00
अर्थमिति परिभाषा कोश	17.65

अन्य

अंतराष्ट्रीय विधि परिभाषा कोश	344.00
नाट्यशास्त्र, फिल्म एवं टेलीविजन परिभाषा कोश	200.00
नाट्यशास्त्र, फिल्म एवं टेलीविजन शब्दावली	75.00

संदर्भ ग्रंथ

एतिहासिक नगर	195.00
प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक नगर	109.00
समुद्री यात्राएं	79.00
विश्व दर्शन	53.00
अपशिष्ट प्रबंधन	53.00
कोयला : एक परिचय	425.00
रत्न विज्ञान : एक परिचय	115.00
वहितमल एवं आपंक : उपयोग एवं प्रबंधन	40.00
पर्यावरण प्रदूषण : नियंत्रण एवं प्रबंधन	23.00
भारत में गैस उत्पादन एवं प्रबंधन	540.00
भारत में ऊसर भूमि एवं फसलोत्पादन	559.00
2 दूरीक एवं मानकित समष्टियों में संपात एवं स्थिर बिंदु समीकरणों के साधन	68.00
भारत में प्याज एवं लहसुन की खेती	82.00
पशुओं से मनुष्यों में होने वाले रोग	60.00
ठोस पदार्थ यांत्रिकी	995.00
वैज्ञानिक शब्दावली: अनुवाद एवं मौलिक लेखन	34.00
मृदा–उर्वरता	410.00
ऊर्जा–संसाधन और संरक्षण	105.00
पशुओं के कवकीय रोग : उनका उपचार एवं नियंत्रण	93.00
पराज्यामितीय फलन	90.00
सामाजिक एवं प्रक्षेत्र वानिकी	54.00
विश्व के प्रमुख धर्म	118.00
पृथ्वी : उदभव और विकास	470.00
पृथ्वी से पुरातत्व	40.00
इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी	90.00
द्रवचालित मशीन	66.50
मैग्नेसाइट: एक भूवैज्ञानिक अध्ययन	214.00
मृदा एवं पादप–पोषण	367.00
नलकूप एवं भौमजल अभियंत्रिकी	398.00
विश्व के प्रमुख धर्मों में धर्मसमभाव की अवधारणा : एक तुलनात्मक अध्ययन	490.00
पादपों में कीट प्रतिरोध और समेकित कीट प्रबंधन	367.00
स्वतंत्रता–पूर्व हिंदी में विज्ञान लेखन	167.00
भेड़ बकरियों के रोग एवं उनका नियंत्रण	343.00
भविष्य की आशा : हिंद महासागर	154.00
भारतीय कृषि का विकास	155.00
विकास मनोविज्ञान भाग–1	40.00
विकास मनोविज्ञान भाग–2	30.00
कृषिजन्य दुर्घटनाएं	25.00
इलेक्ट्रॉनिक मापन	31.00
वनस्पतिविज्ञान पाठमाला	16.00
इस्पात परिचय	146.00
जैव–प्रौद्योगिकी : अनुसंधान एवं विकास	134.00
विश्व के प्रमुख दार्शनिक	433.00
प्राकृतिक खेती	167.00
हिंदी विज्ञान पत्रिकारिता : कल, आज और कल	167.00
मानसून पवन: भारतीय जलवायु का आधार	112.36
हिंदी में स्वतंत्रता–परवर्ती विज्ञान लेखन	280.00

बिक्री संबंधी नियम

1. आयोग के प्रकाशन, आयोग के बिक्री पटल तथा सरकार के प्रकाशन विभाग के विभिन्न बिक्री पटलों पर उपलब्ध रहते हैं।
2. सभी प्रकाशनों की खरीद पर 25 प्रतिशत की छूट दी जाती है। कुछ पुराने प्रकाशनों पर 75 प्रतिशत तक भी छूट दी जाती है।
3. सभी तरह के आदेशों की प्राप्ति पर आयोंग द्वारा इनवाइस जारी किया जाता है। अपेक्षित धन राशि का बैंक ड्राफ्ट या मनीआर्डर अध्यक्ष, वैज्ञानिकी शब्दावली आयोग, नई दिल्ली (Chairman, C.S.T.T., New Delhi) के नाम देय होना चाहिए। चेक स्वीकार्य नहीं होगा। अपेक्षित धनराशि प्राप्त होने के पश्चात् ही पुस्तकें भेजी जाती हैं।
4. चार किलोग्राम वजन तक की सभी पुस्तकें सामान्य डाक/अपंजीकृत पार्सल से भेजी जाती हैं। पुस्तकें भेजने पर पैकिंग तथा फॉवर्डिंग चार्ज नहीं लिया जाता है।
5. चार किलोग्राम से अधिक की सभी पुस्तकें रोड ट्रांसपोर्ट से भेजी जाती है तथा इन पर आने वाले सभी परिवहन–व्ययों का भुगतान मांगकर्ता द्वारा ही किया जाएगा।
6. पुस्तकें रोड ट्रांसपोर्ट से भेजने के बाद आयोग द्वारा मूल बिल्टी तत्काल पंजीकृत डाक से मांगकर्ता को भेज दी जाती है। यदि निर्धारित अवधि में पुस्तकों को ट्रांसपोर्ट कार्यालय से प्राप्त न किया गया तो उस स्थिति में लगने वाले सभी तरह के अतिरिक्त प्रभारों का भुगतान मांगकर्ता को ही करना होगा।
7. रोड ट्रांसपोर्ट से भेजी जाने वाली पुस्तकों पर न्यूनतम वजन का प्रभार अवश्य लगता है जो प्रत्येक दूरी के लिए अलग–अलग होता है। यदि संबंधित संस्था चाहे तो आयोग में सीधे ही भुगतान करके पुस्तकें प्राप्त कर सकती है।
8. दिल्ली तथ उसके नजदीक के क्षेत्रों के आदेशों की पूर्ति डाक द्वारा संभव नही होगी। संबधित संस्था को आयोग के बिक्री एकक में आवश्यक भुगतान करक पुस्तकें प्राप्त करनी होंगी।
9. पुस्तकों की पैंकिंग करते समय इस बात का ध्यान रखा है कि मांगकर्ता को सभी पुस्तकें अच्छी स्थिति में प्राप्त हों। पुस्तकें सामान्य डाक/अपंजीकृत पार्सल/रोड़ ट्रांसपोर्ट से भेजी जाती हैं। यदि परिवहन में पुस्तकों को किसी भी तरह का नुक्सान पहुंचता है तो उसका दायित्व आयोग पर नहीं होगा।
10. सामान्यतः बिल कटने के बाद आदेश में बदलाव या पुस्तकों की वापसी नहीं होगी। यदि क्रय राशि का समायोजन आवश्यक होगा तो राशि वापस नहीं की जाएगी। इस स्थिति में पुस्तकें ही दी जाएंगी।

प्रकाशन विभाग, भारत सरकार के बिक्री केंद्रों की सूची

क्र. सं.	पता
1.	**प्रकाशन नियंत्रक** प्रकाशन विभाग, (शहरी मामले व रोजगार मंत्रालय), सिविल लाइन्स, दिल्ली - 110054
2.	**किताब महल** प्रकाशन विभाग, भारत सरकार बाबा खड़ग सिंह मार्ग, स्टेट एंपोरियम बिल्डिंग, यूनिट नं. 21, नई दिल्ली - 110001
3.	**पुस्तक डिपो** प्रकाशन विभाग, भारत सरकार के. एस. राय मार्ग, कोलकाता - 700001
4.	**बिक्री काउंटर** प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, सी. जी. ओ. कॉम्प्लेक्स न्यू मेरीन लाइन्स, मुंबई - 400020
5.	**बिक्री काउंटर** प्रकाशन विभाग, उद्योग भवन गेट नं. 3, नई दिल्ली - 110001
6.	**बिक्री काउंटर** प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, (लॉयर्स चैंबर) दिल्ली उच्च न्यायालय नई दिल्ली - 110003
7.	**बिक्री काउंटर** प्रकाशन विभाग, संघ लोक सेवा आयोग, धौलपुर हाउस, नई दिल्ली - 110001

GMGIPMRND—29HRD—26.09.2013.

© भारत सरकार
प्रकाशन नियंत्रक

PED-942
1000—2013(D.S.K.II)

Sale Price Inland: ₹ 344.00 Foreign £ 5.73 or Cents $ 7.16

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

मानव संसाधन विकास मंत्रालय (उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार

Commission for Scientific and Technical Terminology

Ministry of Human Resource Development
(Department of Higher Education)
Government of India

Printed by the General Manager Government of India Press, Minto Road, New Delhi
and Published by the Controller of Publications, DELHI—2013